❁ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ❁

श्री शङ्करचरणकमलेभ्यो नमः

श्री विश्वनाथानुवर्तिने नमः

अथ

कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

* पंचमोऽध्यायः *

ॐ तस्य वयꣳ सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।

ससुत्रा मास्ववाँ इन्द्रोऽअस्मेऽआराच्चि द्वेषः सनुतर्युयोतु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! (शु० य० अ० २ मं० ५२)
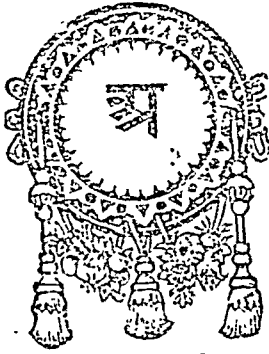
अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा
दगतिच गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ॥
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानाम्
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्मयत्तन्नतोऽस्मि ॥

अहा! आज कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें भारतकुल भूषण अर्जुनके रथकी शोभा वर्णन करनेमें यह छोटी जिह्वा कैसे समर्थ होसकती है? जिस रथका सारथी बननेके लिये स्वयं श्री गोलोकविहारी भक्तहितकारी त्रिलोकीनाथने अपनी सोलहों कलाओंको लिये पदार्पण किया है। आर्यावर्तके वीरशिरोमणियो! युद्धकलामें प्रवीण क्षत्रियवंशावतंसो! उठो! उठो!! चेतो! चेतो!! अपने-अपने शस्त्रोंको ग्रहण करो। रणभूमिकी शोभा देखो! मरो और मारो! क्योंकि तुम वीरोंको फिर ऐसा संयोग कहां प्राप्त होगा? कि अर्जुनके रथ हांकते समय परिश्रान्त होनेसे श्यामसुन्दरके ललाट तथा कपोलोंपर श्रमकणोंमें भीगीहुई लटूरियोंकी अलौकिक शोभा देखतेहुए प्राण देकर उनके स्वरूपमें जामिलो। क्योंकि अन्य युद्धोंमें तो मृत्यु प्राप्त होनेसे स्वर्ग ही का सुख लाभ होता है जो नश्वर है, पर इस युद्धमें जहां स्वयं महाप्रभु तुम्हारी मृत्युके समय तुम्हारे सम्मुख सुशोभित रहेगा तहां तुमको कैवल्य परम पद प्राप्त होनेमें क्या सन्देह है? कुछ भी नहीं तनक भी नहीं।

प्रिय पाठको! चलो हमलोग भी इसी मनोहारिणी छबिको ध्यानमें बसाये हुए अपने विषयकी ओर चलें।

मू०— सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगञ्च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

पदच्छेदः— कृष्ण ! (हे भक्त-पापकर्षण वासुदेव !) कर्मणाम् (नित्य नैमित्तिकादीनाम्) सन्न्यासम् (त्यागम् । विसर्जनम्) पुनः योगम् (कर्मानुष्ठानम्) च [कथम्] शंससि (कथयसि) एतयोः (कर्मानुष्ठानकर्मसन्न्यासयोः) यत् एकम् श्रेयः (प्रशस्यतरम्) तत् मे (मह्यम्) सुनिश्चितम् (सम्यक् प्रकारेण संशयरहितम्) ब्रूहि (कथय) ॥ १ ॥

पदार्थः— (कृष्ण !) हे भक्तोंके पाप खींचनेवाले वासुदेव ! (कर्मणाम्) नित्य नैमित्तिक इत्यादि कर्मोंका (सन्यासम्) त्याग (पुनः) फिर (योगम्) कर्मोंका अनुष्ठान (च) भी (शंससि) क्यों कथन करते हो ? इन विरुद्ध बचनोंको श्रवणकर मैं घबराता हूं सो (एतयोः) इन दोनोंमें (यत्) जो (एकम्) एक वचन (मे) मेरे लिये (श्रेयः) कल्याणकारक हो (तत्) उसी एक (सुनिश्चितम्) निश्चय कियेहुएको (ब्रूहि) कहो ॥ १ ॥

भावार्थः— इस गीता शास्त्रका प्रथम अध्याय तो उपोद्घात है, जिसमें इस अमूल्य रत्न गीताके प्रकट होनेका कारण जो अर्जुनका विषाद वर्णन कियागया है और दूसरा अध्याय सूत्रके समान है जिसमें गीताशास्त्रके सर्व प्रकारके विषयोंका वर्णन करदिया गया है । तीसरे और चौथे अध्यायमें अधिकारी भेदसे ज्ञान प्राप्तिका उपाय जो नाना प्रकारके अनुष्ठान तथा ज्ञानकी महिमा वर्णन कीगई

हैं। अब इस पांचवें और अगले छठवें अध्यायमें कर्म सन्न्यास अर्थात् कर्मोंका त्याग तथा कर्मयोग कर्मोंका अनुष्ठान दोनों विषयोंका वर्णन अधिकारी भेदसे करेंगे।

अब जानना चाहिये, कि संसारमें दो प्रकारके मनुष्य हैं मूर्ख और ज्ञानी। तिनमें मूर्खोंके लिये तो कर्म-सन्न्यास कहा ही नहीं वरु यहां तक कहा, कि "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्" अज्ञानी कर्मसंगियोंकी बुद्धिका भेदन नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे न वह इधरका रहेगा न उधरका रहेगा। दोनों लोकोंसे उसे हाथ धोना पडेगा। क्योंकि इधर संसृत-व्यवहारोंमें डूबे रहनेसे अव-काशके अभाववश वैदिक सब कर्मोंको भी छोडदेगा और उधर उसे मूर्खताके कारण आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो ही गी नहीं। बस! "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" होनेसे उसकी दुर्दशा होजावेगी। इसलिये जो ज्ञानी

टिप्पणी— प्रिय पाठको! बडे शोककी वार्त्ता तो यह है, कि इस वर्त्तमान कलियुगमें तत्वदर्शियोंकी न्यूनताके कारण गुरु-प्रणाली बिगडकर ऐसी नष्ट-भ्रष्ट होगई है, कि साधारण प्राणियोंका तो संसार-जालसे निकलना ही कठिन है, पर जो कोई कुछ इधर उधर टूटे डैनेवाले पक्षियोंके समान उडनेकेलिये चाहता भी है तो फडफडाकर डैना पटककर रहजाता है। क्या करें? कहां जावें? किससे कहें? जिसे देखो वही वेदका ज्ञाता बना बैठा है, पर जो भीतर टटोलिये तो "खं ब्रह्मणे नमः" कहना पडता है। अर्थात् शून्य ब्रह्मको नमस्कार करना पडता है। क्योंकि उनका हृदय सर्वप्रकार शून्य है। मुख्य अभिप्राय यह है, कि तत्वदर्शियों तथा श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठोंकी न्यूनताके कारण भारतवासी अन्य-धर्म्मोंमें जा घुसते हैं और महापाप तथा अन्यायकी गठरी मस्तकपर ले अन्तमें यमपुरीकी यात्रा करते हैं। इस गीताशास्त्रकी गम्भीरताको समझकर आत्मज्ञान प्राप्त करना तो विधाताने उनके ललाटमें लिखा ही नहीं। ईश्वर उनकी बुद्धिको उज्वल करे और अपनी शरण देवे।

नहीं है उसे **कर्म-योगका** ही अधिकार है। क्योंकि कर्मानुष्ठान करते करते अरुन्धतीदर्शनन्यायसे उसे पहले कर्मोंके फलका त्याग बतावेंगे। जब कर्म-फल-त्यागकी महिमासे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होगी और ज्ञानकी श्रद्धा उस अज्ञानीके हृदयमें उपजेगी तब उसे आत्मज्ञान तथा भगवत्तत्त्वस्वरूपकी प्राप्तिका भेद बतावेंगे। तब वह चाहे कर्म करे चाहे न करे दोनों उसकेलिये समान हैं। इस विषयको भगवान् चौथे अध्यायमें भलीभांति निरूपण करआये हैं।

अब अज्ञानियोंकेलिये **कर्मयोग** अर्थात् कर्मानुष्ठान और ज्ञानियोंकेलिये **कर्मत्याग** का भेद इस पांचवें अध्यायमें कहकर कर्मकाण्डका विषय समाप्त करदेवेंगे। पर इस चौथे अध्यायके अन्तमें भगवानने अर्जुनके प्रति यह कहदिया, कि तू "**योगमातिष्ठ**" कर्मानुष्ठानमें वर्त्तमान होजा! तब अर्जुनके हृदयमें यह चिन्ता हुई, कि भगवान्ने अभी मुझसे कर्मसन्यासकी बडी प्रशंसा की है। अभी मुझसे कहा है, कि "**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते**" (देखो अ० ३ श्लो० १७) अर्थात् जो प्राणी आत्मामें सन्तुष्ट है उसको कुछ भी करना नहीं है। इस वचनसे कर्मका त्याग उपदेश किया है तो क्या अच्छीबात है, कि मैं कर्मका त्याग ही क्यों न करदूं? कर्मका अनुष्ठान क्यों करूं?

यहां अर्जुन तो यह चाहता है, कि किसी प्रकार भगवान् मुझे इस युद्धको छोडकर चलेजानेकी आज्ञा देदेवें, इसी कारण जहां—जहां जिस पदमें तनक भी कर्मके त्यागका लेश देखता है झट उसे अपना

विषय मानलेता है। इसलिये अर्जुन फिर भगवान्से यों प्रश्न करता है, कि [सन्न्यासं कर्म्मणां कृष्ण! पुनर्योगं च शंससि] हे भक्तों के दुःखोंको खैंचनेवाले श्री कृष्ण ! तुमतो कभी कर्मका सन्न्यास तथा कभी कर्मका अनुष्ठान उपदेश करते हो। ऐसा क्यों करते हो ? इन दोनों प्रकारके वचनोंसे मुझे एक प्रकारकी चंचलता उत्पन्नहोती है, कि कभी तो जी चाहता है, कि युद्ध करूं कभी चाहता है, कि न करूं। पर तुमतो मुझे बारंबार युद्ध ही करनेकी आज्ञा देरहे हो इसलिये मैं व्यग्र होकर तुमसे पूछताहूं, कि [यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्] इन दोनोंमें जो मेरेलिये अधिक कल्याणकारक हो उसी एक निश्चय कियेहुए मार्गको कहो ! अर्थात् जिसमें मेरे दोनों प्रकारके श्रेयोंका लाभ हो, जिससे मेरी बुद्धि स्थिर होजावे, फिर मुझको किसी दूसरेकी शरण जाकर प्रणिपात, सेवा अथवा प्रश्न द्वारा किसी प्रकारकी शिक्षा पानेकी आवश्यकता न रहे ऐसी एक बात निश्चय कर कहो। क्योंकि तुम जगद्गुरू हो। ऐसा कौन मूर्ख होगा ? जो अपनी प्यासकी शान्तिकेलिये समीपमें अमृतकुण्ड छोडकर मृग-तृष्णाकी ओर दौडेगा ?। सिंहकी शरण छोड जम्बुककी शरणजाना कौन स्वीकार करेगा ? इसलिये हे कृपासागर ! मुझ दीनपर दया कर मेरी इस ढिठाईको क्षमाकरो, कि मैं बारम्बार तुम्हारे वचनोंके स्वीकार करनेमें शंकित हो प्रश्न कियाकरता हूँ। इसलिये मेरा अपराध क्षमाकरो ! कर्मत्याग और कर्मानुष्ठान इन दोनोंमें जो तुमने मेरे-लिये निश्चय कररखा हो सो अवश्य मुझको उपदेश करो ॥ १ ॥

इतना सुन भगवान् बोले—

श्री भगवानुवाच

मू०— सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

पदच्छेदः— सन्न्यासः (कर्मणां त्यागः) च (तथा) कर्मयोगः (कर्मणामनुष्ठानम्) उभौ (द्वौ) निःश्रेयसकरौ ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन मोक्षोपयोगिनौ) [तथापि] तयोः (द्वयोर्निःश्रेयसहेत्वोः) तु कर्मसन्न्यासात् (अशुद्धचित्तेनाविरक्तेनानधिकारिणा कृतात् कर्मत्यागात्) कर्मयोगः (अधिकारसम्पादकत्वेन कर्मानुष्ठानम्) विशिष्यते (उत्कृष्टो भवति) ॥ २ ॥

पदार्थः— श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं, कि हे अर्जुन ! (सन्न्यासः) कर्मोंका जो त्याग (च) तथा (कर्मयोगः) कर्मोंका अनुष्ठान (उभौ) दोनों ही (निश्श्रेयसकरौ) कल्याण कारक अर्थात् मोक्षके उपयोगी हैं तथापि (तयोस्तु) तिन दोनोंमें (कर्मसन्न्यासात्) कर्मोंके त्यागसे (कर्मयोगः) कर्मोंका अनुष्ठान तेरे लिये (विशिष्यते) उत्तम है ॥ २ ॥

भावार्थः— अर्जुनने भगवान्से पूछा है, कि मेरे लिये उत्तम क्या होगा ? कर्मसन्न्यास वा कर्मयोग अर्थात् **कर्मोंको छोडदेना वा कर्मोंको करना ।** अब यह वार्त्ता विचारने योग्य है, कि यदि किसी सन्यासीसे पूछा जावे, कि इन दोनोंमें कौन उत्तम

है तो वह झट बोल उठेगा, कि कर्म-सन्यास उत्तम है। यदि किसी श्रोत्रिय, याज्ञिक, ऋत्विज तथा कर्मकांडीसे पूछा जावे तो वह शीघ्र ही बिना बिचारे यही कहबैठेगा, कि कर्मयोग अर्थात् कर्मका अनुष्ठान करना ही उत्तम है। इसमें सन्देह नहीं, कि इन दोनोंके कथन अपने-अपने स्थानपर उचित हैं। शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके प्रथम और द्वितीय मंत्रमें यों कहा है—

" ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥ "

अर्थ— यह सम्पूर्ण जगत् उस ईशसे व्याप्त है इसलिये इस जगत्में जो जगत है अर्थात् पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा जो तीन प्रकारकी कामनायें हैं इनको त्याग कर किसी अन्यकी अथवा अपने धनकी इच्छा मत कर ! वरु भुञ्जीथाः (पालयेः) अपने आत्मा ही को पालन कर ! अर्थात् सब त्याग केवल आत्मज्ञानकी प्राप्ति कर ! यह पहला मंत्र कर्मसन्न्यासका निरूपण करता हुआ कहता है, कि मुमुक्षुओंको ही कर्मसन्यासका अधिकार है।

अब दूसरा मंत्र उन लोगोंकेलिये है जो आत्मज्ञानी नहीं हैं सो सुनो !

* ॐ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

* इस मन्त्रका भाष्य करतेहुए श्री शंकर भगवान् कहते हैं, कि " अथेतरस्यानात्मज्ञतयात्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशति । " अर्थात् जो आत्मज्ञानियोंसे इतर अनात्मज्ञताके कारण आत्मज्ञानके ग्रहण करनेमें असक्त हैं उनके लिये यह दूसरा मंत्र यों उपदेश करताहै।

अर्थ— यदि तुझको सौ वर्ष जीनेकी इच्छा है तो कर्मोंका सम्पादन कर ! क्योंकि यज्ञादि कर्मोंको छोड " **अन्यथा न अस्ति** " कोई दूसरा प्रकार तुझमें नहीं है जिससे तेरे इस मनुष्य शरीर में पाप-कर्म न लिपटें । अर्थात् आत्मज्ञानी न होनेके कारण कर्मोंका अनुष्ठान छोड अन्य किसी उपायसे पाप छूटनेका कोई मार्ग नहीं देखपडता है ।

शंकर भगवान्ने इन मंत्रोंका ऐसा ही भाष्य किया है । इन ही दोनों मन्त्रोंसे ऐसा सिद्ध होता है, कि **कर्म-सन्यास** और **कर्म-योग** ये दो मार्ग हैं और इन दोनोंके विषय सैकडों मन्त्र वेदोंमें भरे हुए हैं । ये दोनों कल्याणकारक हैं । पर ऐसा नहीं होसकता, कि एक ही समय एक ही पुरुष इन दोनोंका अधिकारी होसके ।

बहुतेरे पण्डित यों कहबैठते हैं, कि वेदोंमें केवल कर्महीका वर्णन है। सन्न्यासका नहीं है। यह उनका कहना भूल है । यह जो शुक्ल यजुर्वेदका चालीसवां अध्याय है वह सम्पूर्ण अध्याय सन्न्यासका ही बतानेवाला है ।

बहुतेरे महात्माओंकी यही सम्मति है, कि इस सम्पूर्ण अध्यायका कर्मत्यागमें ही विनियोग है कर्म-योगमें नहीं । केवल इसका दूसरा मंत्र थोडा कर्म-योगके विषय कहता है तहां महात्मा शंकरानन्द इसके विषय यों कहते हैं——

" ईशावास्यादयो मंत्रा विनियुक्ता न कर्मणि ।
प्रमाणाभावतस्तेषां कुर्वे व्याख्यामकर्मगाम् ॥ "

अर्थ— इस ईशावास्यके सम्पूर्ण अध्यायके मंत्रोंका **कर्म-त्यागमें** ही विनियोग है । इसलिये इसका व्याख्यान कर्म-त्याग अर्थात् **सन्न्यासमें** ही करता हूं ।

इनसे अतिरिक्त जितने महा पुरुषोंने इसका भाष्य किया है सबों की यही सम्मति है। श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती इस मंत्रका रहस्य लिखते हुए कहते हैं—

जगद्ब्रह्मैव परमन्ब्रह्मैवेदमिति श्रुतेः ।
यस्माद्ब्रह्मात्मकं सर्वं तस्मात्त्यक्तेन सर्वदा ॥
पालयेथाः स्वमात्मानं स्वस्वरूपं निरंजनम् ।
त्यागशब्देन चाप्यत्र सन्न्यासः परिकीर्तितः ॥
सन्न्यस्य सर्वकर्म्माणि ब्रह्मैवास्मीति भावयन् ।
रक्षणीयः स्वयंचात्मा संसारदत्तकल्पितात् ॥

(ब्रह्मानन्दकृतईशावास्यरहस्य श्लोक० ६, १०, ११)

अर्थ— सम्पूर्ण जगत ब्रह्मानन्दस्वरूप है । श्रुति भी इसी प्रकार कहती है, कि (ब्रह्मैवेदम्) जिस कारण सब ब्रह्मात्मक है इसलिये जगद्बुद्धिका त्यागकर स्वस्वरूप जो निरंजन आत्मा उसे पालनकरो । क्योंकि त्याग शब्दसे यहां कर्म-सन्न्यासका ही तात्पर्य्य है । इसलिये सब कर्मोंका सन्न्यास करके " अहं ब्रह्मास्मि " ऐसा अनुभव करते हुए इस अज्ञान-कल्पित संसारसे अपने आत्माकी रक्षा करो ॥

यही महापुरुष एवम् प्रकारे प्रथम मंत्रका व्याख्यान कर दूसरे मंत्रका रहस्य लिखते हुए कहते हैं, कि—

सर्वकर्म्माणि सन्न्यस्य मन्तव्यः परमेश्वरः ।
तदशक्तस्य कर्म्माणि कर्तव्यानि श्रुतिर्जगौ ॥ १५ ॥

अर्थ— कर्मोंका त्याग करके केवल परमेश्वरही मानने योग्य है । पर जो प्राणी ऐसा करनेमें असमर्थ है उसीके लिये श्रुतिने कर्मोंका सम्पादन करनेकी आज्ञा दी है । इसलिये इसी दूसरे मंत्रमें कहते हैं, कि " अग्निहोत्रादि " कर्मोंका सम्पादन अवश्य करे । क्योंकि—

प्रकारान्तर नैवास्ति न कर्म लिप्यते यथा ।
ईश्वरार्पणबुद्ध्या तु कर्म्म कुर्वन्न लिप्यते ॥ १८ ॥

अर्थ— इन कर्मोंके विना दूसरा कोई उपाय नहीं है, जिससे मनुष्यके शरीरमें शुभाशुभ-कर्म न लिपटें । इसलिये ईश्वरार्पण-बुद्धिद्वारा कर्म करते जानेसे कर्म बाधा नहीं करते ।

महात्मा **उवटने** भी इस दूसरे मंत्रका भाष्य करतेहुए कहा है, कि " यावदिच्छाप्रवृत्तिस्तावत्कर्मस्वधिकार इति " अर्थ— जब तक कामना बनीहुई है तबतक प्राणीका अधिकार कर्ममें ही है । ऐसे ही **आनन्दभट्ट, अनन्ताचार्य्य, शंकरानन्द** इत्यादि विद्वानोंने भी इन दोनों मंत्रोंके अर्थ किये हैं ।

श्यामसुन्दर आनन्दकन्द व्रजचन्द योगेश्वर भगवान अर्जुनके प्रति इसी विषयका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ**] कर्मसन्न्यास और **कर्मयोग** दोनों कल्याणकारक हैं । अभिप्राय यह है, कि इनमें कर्मसन्न्यास सिद्धान्तका-

लमें कल्याणकारक है और **कर्मयोग** साधनकालमें कल्याणकारक है। इसलिये **कर्मसन्न्यास** का अधिकार उन्हींको है जो आत्मज्ञान प्राप्त-करनेके अभिलाषी हैं। पर संसारी मनुष्य जो संसारके भोगोंकी अभि-लाषा रखनेसे चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं करसके हैं उनकेलिये कर्मयोग ही कल्याणदायक है।

इसी कारण भगवान दोनों प्रकारके वचनोंको अधिकारभेदसे पहले भी कहचुके हैं, कि " **यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च-मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्यकार्य्यं न विद्यते** " (अ० ३ श्लो० १७) अर्थात् जो ज्ञानी सदा आत्मा ही में प्रेम रखता है, आत्माहीमें तृप्त रहता है और आत्माहीमें सन्तुष्ट रहता है उसकेलिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। फिर दूसरीबार यों कहा, कि " **न बुद्धिभे-दं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्। योजयेत सर्व्वकर्म्माणि विद्वानयु-क्तः समाचरन्** " (अ० ३ श्लो० २६) अर्थात् कर्मासक्त मूर्खोंकी बुद्धिका भेदकरना अर्थात् उनको पराबुद्धिका रहस्य बताना नहीं चाहिये। इन बचनोंसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कि अधिकारी-भेदसे दोनों श्रेयस्कर हैं।

बडे शोककी बात है, कि बहुतेरे विद्वानोंने आजकल प्रवृत्ति-मार्गमें डूबेरहनेके कारण ऐसा समझलिया है, कि **कर्मसन्न्यास** असं-भव है इसलिये कर्म्मसन्न्यासकी आवश्यकता ही नहीं है। केवल कर्मयोग ही करतेजाना और फलोंको ईश्वरमें समर्पण करतेजाना चा-हिये। पर ये उन ही की सम्मति होसकती है जो बालबच्चोंके स्नेहमें

फंसकर इस निगड-बन्धनको तोडकर निवृत्तिमें जाना कठिन समझ रहे हैं, नहीं तो चार वर्ण और चार आश्रम ये अनादिकालसे चले आरहे हैं, परमात्माकी सृष्टिमें जितनी आदिसे रचनायें होआयी हैं और जितने विषयोंका वर्णन वेदोंमें है उनमें एकभी निर्बीज नहीं होसकता तो फिर ऐसा समझना, कि कर्मसन्न्यासका बीज ही संसारमें नहीं है, समझने वालेकी भूल है। हां! इतना तो अवश्य कहा जासकता है, कि इस कलियुगमें कर्मसन्न्यासकी न्यूनता होगई है, पर एकबारगी अभाव नहीं कहा जासकता। जो विद्वान् एवम् प्रकार केवल कर्म-योग ही पर बल देते हैं वे इस पांचवें अध्यायके इस दूसरे श्लोकको लेकर अपने पक्षका सिद्धान्त करने लगजाते हैं और कहते हैं, कि भगवान्ने स्वयं अपने मुंहसे कहा है, कि यद्यपि कर्मसन्न्यास और कर्मयोग दोनों कल्याण कारक हैं" पर [तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते] इन दोनोंमें कर्म-सन्न्याससे कर्मयोग विशेष उपयोगी है अर्थात् प्रशस्यतर है। इन विद्वानोंको यह अवश्य विचारना चाहिये, कि भगवानने ऐसा क्यों कहा? कहनेका प्रयोजन क्या था?

यह एक सीधीबात है, कि किसी प्रश्नका उत्तर देतेसमय उत्तरदाता को प्रश्नकर्ताकी अपेक्षा अवश्य करनी चाहिये नहीं तो अपेक्षारहित उत्तर निरर्थक समझाजाता है। तथा उस उत्तर देनेवालेकी भी हानि है। इसलिये जो उत्तरदेनेवाला आगे पीछे सब बातोंको देखकर उत्तरदेता है वही चतुर है। इसपर एक दृष्टान्त दियाजाता है।

किसी नगरके मार्ग पर दो भयंकर राक्षस रहते थे। जो प्राणी

उधरसे चलता था उससे दोनों यह प्रश्न करते थे, कि " यात्रियोंको घरसे अन्न जल करके मार्ग चलना चाहिये ? अथवा मार्ग चलकर अन्न जल करना चाहिये " ? जो यात्री यह कहता था, कि अन्न जल करके घरसे चलना चाहिये उसे एक राक्षस खा जाता था और जो यह कहता था, कि चलकर अन्न जल करना चाहिये उसे दूसरा खा जाता था । एवम् प्रकार इन दोनों राक्षसोंने अनेक यात्रियोंको खाकर पचा-दिया । संयोगवशात् एक वृद्ध ब्राह्मण जो परम चतुर था उस मार्गसे जा निकला किसी दयावान्ने उसे रोका, कि तुम इस मार्गसे मत जाओ वृद्ध ब्राह्मणने कारण पूछा तो उसे सारा वृत्तान्त उस दयावानने सुना दिया । वृद्ध ब्राह्मण कुछ विचार करनेके पश्चात् उसी मार्ग होकर चला जब उन राक्षसोंके समीप पहुँचा, उन्होंने उसी प्रकार उस ब्राह्मणको घेर कर प्रश्न किया । ब्राह्मण बोला, कि तुम राक्षसोंकी बात मुझसे पूछते हो वा मनुष्यों की ? यदि राक्षसोंकी पूछते हो तो मैं मनुष्य हूं कुछ नहीं कह सकता ! यदि मनुष्योंकी पूछो तो मैं कहूं ! राक्षसोंने कहा, कि हम मनुष्योंकी पूछते हैं ! ब्राह्मण बोला सुनो ! बरसातके चार-महीनेमें तो मनुष्योंको यात्रा करनी ही नहीं चाहिये । रही दो ऋतु जाडा और गरमी जाडेके दिनोंमें स्नान भोजन करके चलना चाहिये । क्योंकि सवेरे शीतकी अधिकता से मार्ग चलनेमें कष्ट होता है, इस लिये जबतक सूर्य्यकी प्रबल किरणोंसे शीतका निवारण हो तबतक स्नान भोजनादि कार्य्योंसे छुट्टी कर आन्द-पूर्वक सुहावनी धूपमें मार्ग चलना उत्तम है । इसीके प्रतिकूल गरमीके दिनोंमें कुछ मार्ग चलकर स्नान भोजन करना चाहिये । क्योंकि ठराडे-ठराडे सवेरे आनन्द-पूर्वक

कुछ मार्ग कट जावेगा; जब धूपकी गरमी होगी तब किसी वृक्षकी छाया अथवा किसी उत्तरण-स्थानमें ठहर कर स्नान भोजनमें मध्य दिवसके तापको गवां कर फिर आगे चलना चाहिये । मैंने यह तुमको मनुष्योंकी बात कही । पर राक्षसगण जब चाहें चल सकते हैं । मैंने तुमको उचित उत्तर देदिया अब चाहे मुझे खालो वा छोडदो । इतना सुन वे दोनों राक्षस अत्यन्त प्रसन्न हुए और वृद्ध ब्राह्मणको बहुतसा द्रव्य देकर विदा किया ।

विद्वानोंको विचारना चाहिये, कि इसी प्रकार प्रश्नके उत्तर देनेमें यदि प्रश्नकर्त्ताकी अपेक्षा न कीजावे तो प्रश्न कर्त्ताको भी सन्तोष नहीं होसकता । और उत्तर देनेवालेकी भी हानि होनी संभव है ।

इसी प्रकार यहां अर्जुन जो संसारके कल्याण निमित्त अपनेको अज्ञानी बना शोकातुर हो आत्मज्ञानरहित पुरुषोंकी अपेक्षा लेकर प्रश्न करता है तब उसके उत्तरमें भगवान अर्जुनके प्रश्नकी अपेक्षा करके यह कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तेरे लिये " **कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**" कर्म-सन्न्याससे कर्म-योग ही उत्तम है । इस कर्म-योगका अभ्यास करते-करते कर्म-सन्न्यासका अधिकार आपसे आप होजावेगा ।

इसी विषयको भगवानने पहले भी कहा है– " **तत्स्वयं योग-संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति** " (अ० ४ श्लो० ३८) अर्थात् सो जो ज्ञान वह कुछ काल कर्म-योगका अभ्यास करनेसे आपसे-आप प्राणी अपने अन्तःकरणमें लाभ करता है । फिर यह भी कहा है, कि " **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते** ॥ " (अ० ३

श्लो० ४) " अर्थात् बिना कर्म आरम्भ किये कोई नैष्कर्म्य अवस्थाको प्राप्त नहीं होसकता । इसलिये साधकको कर्म करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि भगवान आगे भी कहेंगे, कि चार प्रकारके अधिकारी हैं— " आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ! " (देखो अ० ७ श्लो० १६) अर्थात् आर्त्त (जिसपर कुछ दुःख पडा है) जिज्ञासु (जो मोक्षकी अभिलाषा रखता है) अर्थार्थी (जिसे धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि किसी प्रकारके अर्थका प्रयोजन है) ज्ञानी, (जो भगवत्स्वरूपको छोड कुछ नहीं चाहता, नित्य ब्रह्मानन्दमें मग्न है) ।

उक्त चारोंमें आर्त्त और अर्थार्थीसे तो कर्मका त्याग हो ही नहीं सकता । क्योंकि इन दोनोंके कर्म सकाम हैं । ये सकामकर्मके अधिकारी हैं । जिज्ञासु निष्कामकर्मका अधिकारी है । ज्ञानी सन्न्यासका अधिकारी है । इसी कारण यह बात पूर्ण प्रकार सिद्ध होती है, कि बिना आत्मज्ञान प्राप्त हुए कोई कर्मके त्यागका अधिकार नहीं रखता इसलिये सर्वसाधारण प्राणीकेलिये कर्मोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता है । इसी कारण भगवान्ने आर्त्त, अर्थार्थी और जिज्ञासुओंकेलिये कर्मसन्न्याससे कर्मयोगको श्रेष्ठ किया क्योंकि बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए मनमें विषयोंका मल अर्थात् स्मरण बने रहनेसे केवल हाथ पांवसे कर्मका त्याग विमूढात्माका काम है और मिथ्याचार है (देखो अ० ३ श्लो० ६) ।

कर्मसन्न्यासवालोंको चाहिये, कि पहले कर्म-योगद्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करलें और कर्म-योगवालों को भी चाहिये, कि भूलकर कर्मोंके फलका संग्रह न करें और कर्मयोगके फल कर्मसन्न्यासतक पहुंचजावें ।

नहीं तो विना सन्यास तक पहुंचे कर्म-योग भी निरर्थक है सो भगवान् आगे कहेंगे।

प्यारे विद्वज्जनो! बताओ तो सही, कि कर्म-योग और कर्म सन्यासमें क्या अन्तर रहा? कर्म-सन्यासवालेने स्वरूपतः लौकिक, वैदिक कर्मोंका त्याग करदिया इसलिये कर्मोंके बन्धनमें नहीं पडकर मुक्त होगया। और कर्म-योगवालेने कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न करके फलका त्याग किया अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर सन्यासका अधिकारी हुआ। इसलिये कर्म-योग और कर्म-सन्यासमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं समझना चाहिये। इन दोनोंमें केवल उपाय और उपेयका सम्बन्ध है। सो भगवान् आगे चलकर चौथे पांचवें श्लोकोंमें निश्चय करेंगे। इसलिये जो विद्वान् इस समय सन्यासका खण्डन करते हैं वे प्रमादी हैं। हां! विना कर्म-योग अभ्यास किये कर्म-सन्यास दुःखका कारण होता है इसलिये भगवान्ने इस श्लोकमें कर्म-योगकी विशेषता कही।

भगवान्ने जो इस श्लोकमें कर्मयोग और कर्मसन्न्यास दोनोंको कल्याण-कारक कहकर कर्म-योगको विशेष कहा सो केवल उन लोगों के लिये कहा जो आगे चलकर सम्पूर्ण संसारको मिथ्या जान पुत्र, पौत्र, कलत्र आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके निगडबन्धनोंको त्यागकर यतचित्तात्मा हो सर्व प्रकार के परिग्रहोंसे रहित हो एकाकी रहकर भगवच्चरणारविन्दोंके प्राप्त करनेकी पूर्ण अभिलाषा रखते हैं अर्थात् यथार्थ सन्यासको धारण कर भगवत्में मिलजाना चाहते हैं। पर वर्त्तमानकालमें बहुतेरोंने सन्यासको डेढ पैसेका सन्यास समझा है अर्थात्

एक पैसा नाईको देकर सिर मुडाकर एक धेलेकी गेरूसे कपडा रंगकर संन्यासी बनजाना ॥ २ ॥

अब भगवान् श्रेष्ठ कर्मयोगीको सन्यासीकी ही तुल्य पदवी देतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं—

मू०— ज्ञेयः स नित्य सन्न्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

पदच्छेदः— महाबाहो ! (महान्तौ बाहू यस्य तत्सम्बोधने) यः (कर्मयोगी) न (नहि) द्वेष्टि (शत्रुबधार्थं श्येनादियज्ञं सम्पादयति) न (नैव) कांक्षति (सुखस्याभिलाषां करोति) सः (निष्काम कर्मयोगी) नित्यसन्न्यासी (कर्मानुष्ठानकालेऽपि सदा रागद्वेषराहित्यरूपसन्यासगुणविशिष्टः) ज्ञेयः (ज्ञातव्यः) हि (यस्मात्) × निर्द्वन्द्वः (रागद्वेषयोः सत्यानृतयोरात्मानात्मनोः परस्पराध्यासरतद्रहितः) सुखं (आयासं विना) बन्धात् (संसारबन्धनात्) प्रमुच्यते (मुक्तो भवति) ॥ ३ ॥

पदार्थः— (महाबाहो) हे विशाल पराक्रमयुक्त भुजावाला अर्जुन ! (यः) जो कर्मयोगी (न द्वेष्टि) किसीसे द्वेष नहीं करता तथा (न कांक्षति) किसी प्रकारके सुखकी इच्छा नहीं करता (सः) सो कामना रहित कर्मयोगी (नित्य सन्न्यासी) सदा सन्यासी ही के समान (ज्ञेयः) जानने योग्य है (हि) क्योंकि (निर्द्वन्द्वः) जो

× निर्द्वन्द्वः— " द्वन्द्वं वै मिथुनं तस्माद् द्वन्द्वान्मिथुनं प्रजायते " इति श्रुतेः। द्वन्द्वं स्त्रीपुंसयोर्मिथुनं तद्रहितः स्त्री आदि त्यागः ।

प्राणी द्वन्द्व रहित है वही निश्चय करके (सुखम्) बिना किसी परि-श्रमके सुख पूर्वक (बन्धनात्) संसार-बन्धनसे (प्रमुच्यते) छूट-जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थः— अब योगेश्वर भगवान् कर्मयोगका तथा निष्काम कर्म-योगीको सन्न्यासी ही की पदवी देतेहुए कहते हैं, कि [**ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति**] जो प्राणी सर्व प्रकारके कर्मोंका सम्पादन करते हुए न किसीसे द्वेष करता है और न किसी सुखकी इच्छा करता है उसे नित्य सन्न्यासीकी पदवीसे विभूषित करना चाहिये।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यद्यपि माहेश्वरी माया प्रबला है, छोटे बडे सबोंको अपनी आज्ञामें रखती है। इसके द्वारा जो काम क्रोधादि विकारोंका विस्तार इस संसारमें फैला है इतना प्रबल है, कि बडे-बडे ऋषि महर्षियोंको सात तह पृथ्वीके नीचे गाडदिया है। फिर भी जो अत्यन्त दृढ प्राणी है, जो रजोगुणसे उत्पन्न काम क्रोधके फन्दे न पडकर " न द्वेष्टि " किसीसे किसी प्रकारका द्वेष नहीं करता, यहां तक, कि जिस **कर्मयोग** के अनु-ष्ठानसे वेदमंत्रोंके द्वारा प्राणी सकल देव देवियोंको अपने वशीभूत करसकता है और जिसे चाहे हानि लाभ पहुंचा सकता है तिस कर्म-योगमें इतनी प्रबल शक्ति प्राप्त करलेनेपर भी जो कर्मोंके फलकी अभिलाषा नहीं करता अर्थात् अपने शत्रुओंके बध निमित्त श्येनादि यज्ञका सम्पादन नहीं करता, यहां तक, कि सर्प, व्याघ्र इत्यादि क्रूर जीवोंकी भी हानि नहीं चाहता, तथा " न कांक्षति " पुत्र,

पौत्रादिके तात्पर्यसे जो पुत्रेष्टि तथा स्वर्गादिकी कांक्षासे ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंका सम्पादन नहीं करता, जो सर्व प्रकार अपने कियेहुए कर्मोंका फल केवल ईश्वरमें समर्पण करता रहता है और स्मरण भी नहीं रखता, कि मैंने कर्म किया वा न किया वही नित्यसन्न्यासी कहेजाने के योग्य है। ऐसे गृहस्थको तो उत्तम सन्यासी ही जानना चाहिये मिथ्याचारी सन्यासियोंको चाहिये, कि ऐसे गृहस्थोंके चरण धोकर पीया करें। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते**] हे विशाल पराक्रम युक्त भुजा वाला अर्जुन ! ऐसा प्राणी जो सदा द्वन्द्व रहित रहता है राग और द्वेष, सच और झूट, आत्मा और अनात्मा तथा सुख और दुःख इन दोनोंके मेलसे जो अन्तःकरणपर एक प्रकारका आवरण पडनेसे अन्तः करण मलीन होजाता है तिस द्वन्द्वज आवरणको जो हटाकर निर्द्वन्द्व होजाता है अर्थात् नित्य नैमित्तिक पंचमहायज्ञ तथा अनेक प्रकारके कर्मोंको करता हुआ भी मानो कुछ नहीं करता वही संसारबन्धनसे छूटजाता है। भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि सन्न्यासीमें और ऐसे कर्मयोगीमें देखनेमात्र स्वरूपतः अन्तर है पर यथार्थ में कुछ भेद नहीं। क्योंकि सन्न्यासी बिना कुछ किये निर्द्वन्द्व है और यह कर्मयोगी सब कुछ करता हुआ भी निर्द्वन्द्व ही है। इसी लिये कर्मयोगीकी तो अधिक स्तुति होनी चाहिये। क्योंकि जो सब छोड छाड कर संसारके रणसे भाग कर सन्न्यासी होगया है वह यदि शुद्ध अन्तःकरण वाला न हुआ तो उसे फिर संसारसागरमें गिरनेका भय है, पर कर्मयोगी को तो सदा ऊपर चढनेका अवकाश है।

इसलिये कर्मयोगी स्तुति करने योग्य है । भगवान् इसी वार्त्ताको पहले भी कहआये हैं " असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुष " (अ० ३ श्लो० १६ में देखो) अर्थात् अनासक्त होकर कर्म करनेवाला मोक्षको प्राप्त होता है । क्योंकि वह भली भांति समझता है, कि यह सम्पूर्ण विश्व नश्वर है तथा यह शरीर नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त है । इसलिये ऐसा निर्द्वन्द्व प्राणी किसी कर्म-फलका कुछ भी संग्रह न करके केवल भगवत्स्वरूपको ही मुख्य मानता है । श्रु०— " **कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः ?** " (मैत्रायण्युपनिषत प्र० १ मं ३ में देखो)

अर्थ— यह शरीर जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्षा, इष्टवियोग, अनिष्टसंप्रयोग, क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, रोग, शोकादिसे अभिहत है तिसे इस काम-भोगद्वारा सुखकी प्राप्ति कैसे होसकती है ? जैसे किसी लोहेकी शृंखलासे बांधेहुए राजद्रोहीको नाना प्रकारके मिष्टान्नादि भोजनसे प्रसन्नता नहीं प्राप्त होसकती इसी प्रकार संसार वन्धनोंसे जकडेहुएको काम भोगसे कैसे प्रसन्नता प्राप्त होसकती है ? कदापि नहीं । इसलिये चतुर **कर्मयोगी** सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण करके यों कहता है, कि भगवन्! श्रु०— " **अन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः** " (मैत्रायण्युप० प्रपा० १ मं० ७ में देखो) मैं इस संसाररूप अँधेले कूपमें भेक (मेंढक) के समान पड़ाहूं, सो हमारी गति तुम ही हो ! हमारी गति तुम ही हो !

पौत्रादिके तात्पर्यसे जो पुत्रेष्टि तथा स्वर्गादिकी कांक्षासे ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंका सम्पादन नहीं करता, जो सर्व प्रकार अपने कियेहुए कर्मोंका फल केवल ईश्वरमें समर्पण करता रहता है और स्मरण भी नहीं रखता, कि मैंने कर्म किया वा न किया वही **नित्यसन्न्यासी** कहेजाने के योग्य है। ऐसे गृहस्थको तो उत्तम सन्यासी ही जानना चाहिये मिथ्याचारी सन्यासियोंको चाहिये, कि ऐसे गृहस्थोंके चरण धोकर पीया करें। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते**] हे विशाल पराक्रम युक्त भुजा वाला अर्जुन ! ऐसा प्राणी जो सदा द्वन्द्व रहित रहता है राग और द्वेष, सच और झूट, आत्मा और अनात्मा तथा सुख और दुःख इन दोनोंके मेलसे जो अन्तःकरणपर एक प्रकारका आवरण पडनेसे अन्तःकरण मलीन होजाता है तिस द्वन्द्वज आवरणको जो हटाकर निर्द्वन्द्व होजाता है अर्थात् नित्य नैमित्तिक पंचमहायज्ञ तथा अनेक प्रकारके कर्मोंको करता हुआ भी मानो कुछ नहीं करता वही संसारबन्धनसे छूटजाता है। भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि सन्न्यासीमें और ऐसे कर्मयोगीमें देखनेमात्र स्वरूपतः अन्तर है पर यथार्थ में कुछ भेद नहीं। क्योंकि सन्न्यासी बिना कुछ किये निर्द्वन्द्व है और यह कर्मयोगी सब कुछ करता हुआ भी निर्द्वन्द्व ही है। इसी लिये कर्मयोगीकी तो अधिक स्तुति होनी चाहिये। क्योंकि जो सब छोड छाड कर संसारके रणसे भाग कर सन्न्यासी होगया है वह यदि शुद्ध अन्तःकरण वाला न हुआ तो उसे फिर संसारसागरमें गिरनेका भय है, पर कर्मयोगी को तो सदा ऊपर चढनेका अवकाश है।

इसलिये कर्मयोगी स्तुति करने योग्य है । भगवान् इसी वार्त्ताको पहले भी कहआये हैं " असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुष " (अ० ३ श्लो० १९ में देखो) अर्थात् अनासक्त होकर कर्म करनेवाला मोक्षको प्राप्त होता है । क्योंकि वह भली भांति समझता है, कि यह सम्पूर्ण विश्व नश्वर है तथा यह शरीर नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त है । इसलिये ऐसा निर्द्वन्द्व प्राणी किसी कर्म-फलका कुछ भी संग्रह न करके केवल भगवतत्स्वरूपको ही मुख्य मानता है । श्रु०— " कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः ? " (मैत्रायण्युपनिषत प्र० १ मं ३ में देखो)

अर्थ— यह शरीर जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्षा, इष्टवियोग, अनिष्टसंप्रयोग, क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, रोग, शोका-दिसे अभिहत है तिसे इस काम-भोगद्वारा सुखकी प्राप्ति कैसे होसकती है ? जैसे किसी लोहेकी शृंखलासे बांधेहुए राजद्रोहीको नाना प्रकारके मिष्टान्नादि भोजनसे प्रसन्नता नहीं प्राप्त होसकती इसी प्रकार संसार बन्धनोंसे जकडेहुएको काम भोगसे कैसे प्रसन्नता प्राप्त होसकती है ? कदापि नहीं । इसलिये चतुर कर्मयोगी सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण करके यों कहता है, कि भगवन्! श्रु०— " अन्धोदपानस्थो भेकइवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः " (मैत्रायण्युप० प्रपा० १ मं० ७ में देखो) मैं इस संसाररूप अँधेले कूपमें भेक (मेंढक) के समान पड़ाहूं, सो हमारी गति तुम ही हो ! हमारी गति तुम ही हो ।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसा प्राणी " सुखं बन्धात्प्रमुच्यते " विना परिश्रमके सुखपूर्वक संसार-वन्धनसे छूटजाता है ।

शंका— पहले तो यह कहा, कि आत्मज्ञानियोंकेलिये कर्मसन्न्यास है और अज्ञानियोंकेलिये कर्मयोग है । अब कर्मयोग ही की स्तुति करनेलगे और कहने लगे, कि संसारसे बिना परिश्रम छूटनेका कारण कर्मयोग ही है । इन दोनों बचनोंमें परस्पर विरोध होता है । ऐसा क्यों ?

समाधान— इन दोनों वचनोंमें बिरोध कुछ भी नहीं है दोनों का तात्पर्य्य एक ही है । क्योंकि इधर कर्मके दो भेद हैं **सकामकर्मयोग** और **निष्कामकर्मयोग** और उधर कर्मकरने-वालोंके चार भेद हैं । **ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी** और **आर्त्त** इनमें जो ज्ञानी है वह जीवन्मुक्त कहाजाता है उसे कर्मयोगकी आवश्यकता ही नहीं है। बचरहे तीन **जिज्ञासु, अर्थार्थी,** और **आर्त्त** । इनमें जिज्ञासुओंकी गणना उत्तम श्रेणीमें है क्योंकि वे संसार-वन्धनसे छूटनेकी इच्छा करते हैं । इसलिये ऐसे मुमुक्षुकेलिये **निष्कामकर्मयोग** की आज्ञा है । शेष जो **अर्थार्थी** और **आर्त्त** हैं उनकेलिये सकामकर्म करनेकी आज्ञा है । इसी कारण वेदोंने भी केवल इन दोनोंकेलिये सकामकर्मोंकी आज्ञा दी है और यह दिखलाया है, कि नाना प्रकारके कर्मोंके सम्पादन करनेसे भिन्न-भिन्न कामनाएँ प्राप्त होती हैं । इसलिये सकामकर्म करनेवाले तो कर्मकी समाप्तिके पश्चात् अपनी कामनाओंको प्राप्त करते हैं । और **निष्कामकर्म** वाला जिज्ञासु अन्तः-

करणकी शुद्धि लाभ करताहुआ आत्मज्ञान प्राप्तकरता है। इस कारण निष्काम—कर्मयोग और कर्मसन्यासमें कुछ भी अन्तर नहीं है । शंका मत करो !

जिज्ञासु तो मायाकी निद्रासे जगपडा है इसलिये निष्कामकर्मयोगका अधिकारी है। पर आर्त्त और अर्थार्थी दोनों मोहकी निद्रामें शयन किये हुए हैं इसलिये निष्कामकर्मके अधिकारी नहीं हैं । जब कभी प्रारब्धकी प्रेरणासे इनपर भी किसी दयावानकी दृष्टि पडजावेगी तो ये भी निष्कामकर्मयोगके अधिकारी होजावेंगे ॥ ३ ॥

अब कर्मफलदाता श्री गोकुलविहारी अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यदि तुझको शंका हो, कि जब कर्मयोगहीसे संसारबन्धन छूटजाता है फिर कर्मसन्न्यासकी क्या आवश्यकता है ? तो सुन !

मू०—सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
॥ ४ ॥

पदच्छेदः— **बालाः** (शास्त्रार्थज्ञानविवेकशून्याः) ×**सांख्ययोगौ** (सन्न्यासकर्मयोगाख्यौ) **पृथक्** (भिन्नफलौ) **प्रवदन्ति** (कथयन्ति) **न** (नहि) **पण्डिताः** (शास्त्रज्ञाः । विवेकिनः) **एकम्** (कर्मयोगं सन्न्यासं वा) **अपि,** **सम्यक्** (स्वाधिकाररूपेण यथाशास्त्रम्) **आस्थितः** (अनुष्ठितवान्) **उभयोः** (सन्न्यास-

× संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरंगसाधनतया सांख्यः सन्न्यासः ।

कर्मयोगयोः) फलम् (निर्विल्पात्मनावस्थितिरूपम् मोक्षम्) विन्दते (लभते) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (बालाः) जो बालकोंके समान अविवेकी हैं वे (सांख्ययोगौ) सांख्य जो ज्ञान सहित कर्मत्याग अर्थात् सन्न्यास और योग जो समबुद्धि युक्त कर्मोंका सम्पादन अर्थात् कर्म-योग इन दोनोंको (पृथक्) भिन्न-भिन्न फल देनेवाले (प्रवदन्ति) कहते हैं पर (पण्डिताः) जो पण्डित, शास्त्रज्ञ और ज्ञानी हैं वे (न) ऐसा नहीं बोलते । क्योंकि (एकमपि) इन दोनोंमेंसे किसी एकको भी (सम्यक्) अपने अधिकारानुसार यथाशास्त्र (आस्थितः) अनुष्ठान करनेवाला (उभयोः) सन्न्यास और कर्मयोग दोनोंका (फलम्) एक समान फल (विन्दते) लाभकरता है ॥ ४ ॥

भावार्थः— अब श्यामसुन्दर अर्जुनकी शंका दूर करनेके तात्पर्य्यसे सन्न्यास और कर्मयोग की एकता दिखलाते हुए कहते हैं, कि [**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः**] जो बालबुद्धि हैं अर्थात् जिन्होंने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठोंकी सेवामें उपस्थित होकर वेदशास्त्रोंका मर्म नहीं जाना है न किसी प्रकारके सकाम वा निष्काम कर्मोंका अभ्यास किया है वे बालकोंके समान चंचल बुद्धिवाले हैं । वे ही सांख्य और योग को पृथक्-पृथक् फल देनेवाला कहते हैं, पर जो ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी शास्त्रोंके मर्म जानने वाले हैं वे ऐसा नहीं बोलते ।

शंका— अर्जुनने तो कर्मसन्न्यास और कर्मयोग के फलोंके विषय पूछा है और भगवान् सांख्य और योगके विषय उत्तर देते हैं। ऐसा प्रकरणान्तर क्यों ?

समाधान— सांख्य और योग कहनेसे कुछ भी प्रकरणान्तर नहीं होता है, क्योंकि कर्मसन्न्यास सांख्यके अन्तर्गत है, सांख्यका ही अंग है, सांख्य वाला ही कर्म-सन्यासका अधिकारी होता है; इसलिये प्रकरणान्तर नहीं है। सन्यास और कर्मयोगमें जब बुद्धिकी समता होती है तब उसीको सांख्य और योग शब्दसे पुकारते हैं। भगवान्को तो केवल अर्जुन ही के प्रश्न मात्र हीका उत्तर देना अभिलषित नहीं है वरु अर्जुनका जिस प्रकार कल्याण हो सो कहना अभीष्ट है। इसलिये अर्जुनकी शंकाको तो एक साधारण शंका जानकर भगवान् ऐसे शब्दोंमें उत्तर देते हैं, कि शंकाका समाधान भी होजावे और उसीके साथ-साथ जो भगवान्का विशेष तात्पर्य है वह भी अर्जुनकी समझमें आजावे। इसलिये भगवान् यहां सन्यास शब्द के स्थान पर सांख्य शब्दका प्रयोग करते हैं।

सांख्य शब्द का अर्थ है ज्ञानसहित सन्यास। अथवा इस शब्द का यों अर्थ करलीजिये, कि "सांख्यम् समित्येकी भावे इति × यास्कः" यास्क मुनिने ऐसा कहा, कि एकीभाव जो भिन्न पदार्थोंकी समता है वही सांख्य है। प्रमाण श्रु०— "तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयꣳ रूपम् तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मा संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽन्तरं तद्वा अस्यै तदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳ शोकान्तरम् ॥

(बृह० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० २१)

अर्थ— आत्मज्ञानियोंका लक्षण कहते-कहते श्रुति कहती है, कि "तद्वा" सो जो ज्ञान-योगबुद्धि अर्थात् सांख्य-बुद्धिवाला प्राणी है उसका रूप कैसा है, कि अतिच्छन्द है अर्थात् सर्व प्रकार की कामनाओंसे रहित धर्माधर्म लक्षणको त्यागे हुए पापोंसे रहित है । अर्थात् दुःख सुखके बन्धनमें नहीं आनेवाला है । इसलिये वह अभय रूप है उसे महाकालका भी भय नहीं है । क्योंकि अन्तर बाहर सर्व प्रकारकी कामनाओंसे रहित है । तिसका उदाहरण श्रुति देती है, कि जैसे मनुष्य अपनी प्रिय स्त्री से (संपरिष्वक्त) मिलनेके समय बाहर भीतरकी कुछ भी सुधि नहीं रखता इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञानसे अर्थात् ब्रह्मानन्द-वृत्तिसे आत्माके साथ परिष्वक्त होकर बाहर भीतरके स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचकी कुछ भी सुधि नहीं रखता है । इसलिये वह आप्त-काम है । आप्तकाम होनेके कारण (शोकान्तरम) सर्व प्रकारके शोकोंसे जिसका रूप शून्य है अर्थात् शोकरहित आत्मानन्दमें मग्न है ।

एवम् प्रकार सर्वत्र सम बुद्धि होकर एकताकी प्राप्तिकी अवस्थाको सांख्य कहते हैं । इसीकी प्राप्ति निमित्त जो कर्मोंका त्याग उसीको कर्म-सन्यास कहते हैं । जिसका फल संसार-बन्धनसे छूटजाना कहा है । इसी एकीभावको पुनः दूसरी श्रुति द्वारा दृढ करते हैं— प्रमाण श्रुतिः— "**एकीभावेनात्मानन्यत्वेन ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुरूप अन्येति संख्या । स्थूल सूक्ष्म कारण प्रपंचस्य निर्विकल्पे प्रत्यगात्मनि प्रविलापने नोदिता चेतोवृत्तिस्तत्र साधनभूतो यः सांख्यः सः सन्यासः ॥**"

अर्थ— एक ही आत्माके सर्वत्र व्यापनेके कारण सब वस्तुओंकी एकता जिस बुद्धिसे प्रकट कीजावे उसे संख्या कहते हैं। और स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण इन तीनों प्रकारके प्रपंचकी रचनाको एक आत्मामें लय करनेके लिये जो चित्तकी वृत्ति, तिस वृत्ति द्वारा जो ज्ञानका साधन कियाजावे उसीको " सन्यास " कहते हैं। इतना कहनेसे चित्त-वृति की समताका प्रकाश किया। अर्थात् सन्याससे भी चित्त वृत्तिकी समताका ही बोध होता है।

मधुसूदन टीकाकारने भी सांख्य शब्दका यों अर्थ किया है, कि " **संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरंगसाधनतया सांख्यः सन्न्यासः** " अर्थात सम्यक् प्रकारसे जो आत्म-बुद्धि तिसको ज्ञानके × अन्तरंग साधनोंसे सम्पादन करनेका नाम सांख्य और सन्यास है। श्रीधर स्वामीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि " **सांख्य शब्देन ज्ञान-निष्ठावाचिना तदंगं सन्न्यासम्** " सांख्य जो ज्ञाननिष्ठावाचक शब्द है उसीका एक अंग सन्यास है।

इन महानुभावोंके भाष्योंसे भी यही सिद्ध होता है, कि सन्यास सांख्यका ही अंग है। फिर जैसे कोई किसीसे पूछे, कि गंगास्नानका फल क्या है ? और उत्तर देनेवाला स्नानके फलके साथ गंगाकी उत्पत्ति तथा गंगोत्तरी आदि निकलनेका स्थान, गंगाका विस्तारादिका भी कथन करदेवे तो इसमें हानि कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार भगवान्

× ज्ञानान्तरंगसाधनः।

ने सन्न्यासके स्थानपर सांख्य शब्द कहकर उत्तरको अधिक गंभीर करदिया जिससे सन्न्यास शब्दके पूर्ण अर्थका बोध होजावे। पहले पृष्ठ में जो कथन होचुका है, कि इस गीताका दूसरा अध्याय सूत्रके तुल्य है, जिसमें भगवान सम्पूर्ण गीताके विषयोंको सूत्रवत् कहआये हैं। तहां इस सांख्ययोगको भी श्लोक ११ से श्लोक ३० तक संक्षिप्त रीतिसे वर्णन करदिया है।

अब विचार करने योग्य है, कि सांख्य अर्थात सन्न्यासमें भी बुद्धिकी समता तथा कर्म-योगमें भी बुद्धिकी समता ही दिखलायी गयी। इसलिये सन्न्यास और निष्कामकर्म-योगमें कहने मात्र अन्तर है यथार्थ अन्तर नहीं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि सन्न्यासमें भी वृत्तियोंका निरोध होजाता है जब चित्तवृत्तियां दोनों प्रकारसे निरुद्ध होगयीं तो सर्वत्र आत्मा ही-आत्मा दीखनेलगा, संसारका अभाव होगया, संसारके अभाव होतेही यह प्राणी बन्धनोंसे छूटगया। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू सांख्य और योगको पृथक् मत जान ! क्योंकि जो शास्त्रज्ञ ज्ञानी हैं वे इन दोनोंको पृथक्-पृथक् नहीं कहते। इसलिये मैं अवश्य यही कहूंगा, कि [**एकमप्यास्थितं सम्यगु-भयोर्विन्दते फलम्**] इन दोनोंमें किसी एक मार्गपर दृढ होजाने वाला दोनोंका फल प्राप्त करलेता है। तात्पर्य्य यह है, कि जिसको जिस मार्गका अधिकार हो गुरु द्वारा पूछकर श्रुति स्मृतिकी आज्ञानुसार उसी मार्गका अनुष्ठानकरे। क्योंकि दोनोंका समान फल है। प्रारब्धा-

नुसार जो प्राणी जिस स्थानमें है अपने अधिकारानुसार इन दोनोंमें एकका सेवन करे तो सुखपूर्वक परम पदको प्राप्त होजावेगा ।

शंका— कर्मयोग और कर्म सन्न्यास दोनोंके साधन करने वालोंको किसी प्रकारके फलकी इच्छा तो है ही नहीं फिर फल ऐसा शब्दका प्रयोग माधवने क्यों किया ? तो उत्तर इसका पहले देदियागया है (देखो अ० २ श्लो० ४० पृ० ३६८) ॥ ४ ॥

अब आनन्द-कन्द श्री व्रजचन्द सांख्य और योग दोनोंका अभेद निश्चयरूपसे वर्णन करते हैं—

मू०—यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— सांख्यैः (ज्ञाननिष्ठैः सन्न्यासिभिः) यत् [स्थानम्] (च्युतिवर्जितं परमं धाम) प्राप्यते (लभ्यते) तत् [स्थानम्] +योगैः (ज्ञानप्राप्त्युपायत्वेनेश्वरे समर्प्य कर्म्माण्यात्मनः फलमनभिसंधायानुतिष्ठन्ति ये ते योगिनः तैर्योगिभिः) गम्यते (प्राप्यते) [तस्मात्] सांख्यं च योगं च यः एकम् (समानम् अभिन्नम्) पश्यति (ज्ञानचक्षुषाऽनुभवति) स, पश्यति (सम्यक् प्रकारेण अवलोकयति) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (सांख्यैः) ज्ञाननिष्ठायुक्त सन्न्यासियोंसे (यत्) जो (स्थानम्) स्थान (प्राप्यते) लाभहोता है (योगैः) कर्मयो-

+ अर्श आदित्वानमत्वर्थीयोऽच प्रत्ययः

गियोंसे (अपि) भी (तत्) उसी स्थानकी प्राप्ति कीजाती है अर्थात् जिस स्थानको सन्न्यासी पाते हैं उसीको कर्मयोगी भी पाते हैं। इसलिये (सांख्यम्) सांख्यको (च) और (योगम्) कर्मयोगको (यः) जो विवेकी (एकम्) एक समान (पश्यति) देखता है (सः) वही यथार्थ तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे (पश्यति) अवलोकन करता है ॥ ५ ॥

भावार्थः— कर्मसन्न्यास और कर्मयोग अर्थात् कर्मका त्याग और कर्मका अनुष्ठान इन दोनोंके विषे जो झगडा चलरहा है, कि दोनोंमें कौन विशेष है? इन दोनोंमें किससे शीघ्र परमपदकी प्राप्ति होती है? इसीकी मीमांसा करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि **[यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् तद्योगैरपि गम्यते]** जो स्थान सांख्य द्वारा सन्न्यासियोंको प्राप्त होता है वही स्थान कर्मयोगियोंको भी मिलता है। अर्थात् सब कर्मोंको त्यागकर केवल उस परब्रह्म जगदीश्वर सच्चिदानन्द आनन्दकन्द ज्योतिःस्वरूपके ध्यानमें जो प्राणी सदा मग्न रहता है वही ऐसे आनन्दमय नित्य नवविहारके स्थानको प्राप्त होजाता है। जिसकी शोभाके सामने इन्द्रलोकादि दिव्यलोक भी लज्जित होते हैं और जहां जाकर फिर लौटना नहीं पडता। अर्थात् जो च्युति (पतन) से वर्जित है जिसे परमधाम कहते हैं। जिसके विषय भगवान् आगे भी कहेंगे, कि "**यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमम् मम**" (अ० १५ श्लो० ६ में देखो) अर्थात् जहां जाकर फिर प्राणी लौटते नहीं वही मेरा परमधाम है। श्रुति भी इस धामकी शोभा ऐसे कहती है, कि "**न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकम्**

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः" (मु० २ खं० २ श्रु० १०)

अर्थ— उस परम-ज्योतिमय स्थानमें सूर्य्य अपना प्रकाश नहीं करसकता तथा चन्द्रमा और तारागण भी जहां प्रकाश नहीं करसकते और ये बिजलियां भी जहां अपनी चमकीली चमक नहीं दिखासकतीं । फिर जहां सूर्य्य, चन्द्रमा, तारागण और विद्युतका ही प्रकाश नहीं होता (कुतोऽयमग्निः) तहां इस बिचारी छोटीसी आगकी क्या गिनती है ?

भगवान् कहते हैं, कि जिस ऐसे मनोहर श्रेष्ठ परमधामको कर्म-सन्न्यासवाले प्राप्त करते हैं उसीको कर्मयोगी भी पाते हैं ।

हां ! कर्मयोगी और कर्मसन्न्यासवालोंमें इतना भेद तो अवश्य है, कि कर्मसन्न्यासवाले पूर्वजन्ममें अथवा इसी जन्ममें पहले कर्मयोगके साधन द्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्धकर कर्मसन्न्यासके अधिकारी होचुके हैं । और कर्मयोगी वर्त्तमान समयमें अपने साधन द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिमें लगे हैं जिससे वे कुछ कालान्तरमें सन्न्यास प्राप्तकर उस परम-ज्योतिर्मय स्थान पानेके अधिकारी होंगे ।

जैसे मानसरोवरतीर्थके जानेवाले यात्रियोंमें किसीको चार योजन, किसीको तीन योजन, किसीको दो योजन और किसीको एक ही योजन चलना रहगया है । तो इन चारोंमें एक योजन शेष रहनेवाला यात्री सबसे पहले पहुंचेगा । फिर तथाक्रम पिछले तीनों भी एक दूसरेके आगे पीछे पहुंच ही जावेंगे । इसी प्रकार कर्मसन्न्यासवालेको केवल एक

योजन, निष्काम-कर्मयोगवालेको दो योजन, सकामकर्मयोगवालेको तीन योजन, आर्त्तको चार योजन और मूर्खोंको सहस्रों योजन चलकर उस परमधामतक पहुंचना है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि निष्काम-कर्मयोगवाले एक योजन कर्मसन्न्यासवालेसे पीछे हैं । क्योंकि एकने कर्मयोगद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करली है और दूसरा तिस अन्तःकरणकी शुद्धिकी प्राप्तिमें लगाहुआ है । बस ! इतनाही अन्तर है । इसी कारण श्रीकेशवने **स्थान** शब्दका यहां प्रयोगकिया । जिसमें आगे पीछे चलनेवालोंका बोध हो । अब आनन्दकन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति**] सांख्य और योग दोनों को जो समान देखता है वही यथार्थ देखनेवाला है । क्योंकि जिसका एक ही फल हो उसे एक समान ही कहना चाहिये । केवल कालके भेदसे थोडा अन्तर आगे पीछेका हुआ तो इससे क्या ? एवम् प्रकार (यः पश्यति) जो प्राणी इस परम-धामपर पहुंचकर इसकी ज्योतिमय शोभाको जैसा, कि पहले वर्णनकरआये हैं, देखता है (स पश्यति) वही यथार्थ तत्त्वको देखनेवाला तत्त्वदर्शी है । तहां श्रुति भी कहती है, कि श्रु०— " **ॐ यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं** ❀ **ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥** (मु० ३ खं० १ श्रु० ३)

❀ **ब्रह्मयोनिम्**— जहांसे कोटान्-कोट ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति क्षणमात्रमें होती रहती है।

अर्थ—जब यथार्थ (❀ पश्यः) तत्त्वका देखनेवाला (रुक्मवर्णम्) अत्यन्त सुहावने सुवर्णके समान चमकताहुआ परम ज्योतिःस्वरूप सृष्टिके कर्त्ता परम-पुरुष ब्रह्मयोनिको देखता है तब वही विद्वान् सर्वप्रकारके पुण्य पापोंको भस्मकर विगतक्लेश होकर (परमसाम्यम्) परम समता अर्थात् एकीभावको जिसे अद्वैतपद कहते हैं प्राप्त होता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी निष्कामकर्मोंका सम्पादन करता हुआ निरभिमान और निरासक्त होकर कर्मोंका फल भगवत्में अर्पण करता हुआ भगवत्- स्वरूपको प्राप्त होजाता है वही यथार्थ स्वरूपका देखनेवाला है। क्योंकि जबतक भगवत्-स्वरूपका आनन्द लाभ न हुआ तबतक सब मिथ्या है ॥ ५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जब कर्मसन्न्यास आगे है तो उसीका ग्रहण क्यों नहीं किया जावे ? पिछले कर्मयोगकी क्या आवश्यकता है ? आयु थोडी है, इसलिये जिस उपायसे शीघ्र परम-पदकी प्राप्ति होवे उसीको करना योग्य है।

❀ पश्यः— शब्दका अर्थ देखनेवाला तो अवश्य है पर उन देखनेवालोंसे यहां तात्पर्य नहीं है जो वेद शास्त्रादि अध्ययन कर केवल इन चर्म चक्षुओंसे अक्षरोंको देखते हैं, वरु इनके प्रतिकूल विशेष कर उन देखनेवालोंसे यहां तात्पर्य है जो हृदयके दोनों नेत्र, ज्ञान और वैराग्यसे आत्मतत्त्वको देखरहे हैं। अर्थात् जिनके ये दोनों नेत्र खुलगये हैं वे फिर अन्धोंके समान इस संसारके गर्तमें नहीं गिरते, वरु शरीरयात्राकी समाप्ति होने तक उनके आगे-आगे इस मायामय अन्धकार रात्रिमें परम तेजस्वरूप ब्रह्म प्रकाशका लालटेन बलता चलता जाता है जो शरीर यात्रा ही तक प्रकाश नहीं करता वरु इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोकादि लोकों तक प्रकाश करता-चला जाता है।

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन !

मू०—सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

पदच्छेदः—महाबाहो ! (हे विशाल पराक्रमयुक्त महाबाहु-साध्ये युद्धरूपकर्मण्येवाधिकारिन् अर्जुन !) अयोगतः (योगेन-बिना) सन्न्यासः (ज्ञाननिष्ठासहितस्तु परमार्थः सन्न्यासः) तु (निश्चयेन) आप्तुम् (प्राप्तुम्) दुःखम् (दुर्घटम्) योगयुक्तः (वैदिकेन कर्मयोगेनेश्वरसमर्पितरूपेण निष्कामेन युक्तः) मुनिः (मननशीलः) न चिरेण (क्षिप्रमेव) × ब्रह्म (सत्यज्ञानादिल-क्षणयुक्तं परमात्मानम्) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे (महाबाहो) विशालपराक्रमयुक्त भुजावाला अर्जुन ! (अयोगतः) विना कर्मयोगके अनुष्ठान किये हुए (सन्न्यासस्तु) ज्ञाननिष्ठा सहित जो परमार्थ सन्न्यास है तिसे (आप्तुम्) प्राप्त करनेमें (दुःखम्) अत्यन्त दुःख है अर्थात् तिसका प्राप्त करना बहुत ही कठिन है इसलिये (योगयुक्तः) कर्म-योगसे युक्त अर्थात् कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला (मुनिः) मननशील प्राणी (न चिरेण) बहुत ही शीघ्र (ब्रह्म) उस परमात्माको अथवा परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणसन्न्यासको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

× परमार्थसन्न्यासम् परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणम् (शंकरः)

भावार्थ:— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि कर्मयोगको छोडकर सन्न्यासका ही क्यों न ग्रहण किया जावे ? इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः**] हे विशाल भुजावाला अर्जुन ! तू महान् पराक्रमी है, क्षत्रिय है, पुरुषार्थी है, इसलिये तुझे सदा उच्चस्थान ग्रहण करनेकी इच्छा बनी रहती है पर हे वीर ! तुझे जानना चाहिये, कि कर्मयोगके सम्पादन किये विना जो सन्न्यास है वह महादुःखका कारण है। उसकी प्राप्तिमें घोर क्लेश उपस्थित होजाता है। क्योंकि जब-तक कर्मयोग साधन करते करते अन्तःकरणकी शुद्धि न प्राप्त होवे अर्थात् कर्मफलोंको ईश्वरमें समर्पण करते-करते जबतक अन्तःकरण नाना प्रकारके विषय-भोगोंसे विरक्त न होजावे, संकल्प विकल्प न मिटजावें, राग-द्वेषसे रहित न होजावे और सर्व-प्रकारकी मलीन वासनाओंको त्यागकर ज्ञानकी चौथी भूमिका + सत्त्वापत्ति तक न पहुंच जावे तबतक कर्मसन्न्यासका ग्रहण करना दुस्तर है। बडे २ क्लेशोंका सामना करना पडता है क्योंकि जब बीज फूटकर पूरा वृक्ष तयार होजाता है तब किसीके हिलाये डुलाये पृथ्वीको नहीं छोडता। इसी प्रकार जब वृत्ति निरुद्ध होती हुई अपने लक्ष्यमें जमजाती है और संशय, विपर्यय इत्यादि उपद्रव दूर होजाते हैं तब उसे सन्न्यासका अधिकार होता है।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राणी जबतक

+ सत्त्वापत्ति—देखो अध्याय ३ श्लोक १८।

सकामकर्मोंके कीचमें फंसा हुआ है तबतक वह उच्चपथपर चढनेका अधिकारी नहीं होसकता ।

श्रुतियोंने भी इस वचनको सब विद्वानोंके बीच दुन्दुभीपर दण्ड देकर ऊँचे स्वरसे सुनादिया है, कि जबतक कामनारहित होकर कर्मके फलोंका त्याग न करोगे तबतक ऊपर चढना सम्भव नहीं है। तहां श्रुति कहती है—

श्रु०— "ॐ इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥"

अर्थ— जो यज्ञादि श्रौतकर्म और पूर्त्त जो वापी, कूप तडागादि स्मार्त्तकर्म तिनको मुख्य मानकर फलोंके ग्रहण करनेवाले पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिकी अभिलाषा रखनेवाले (प्रमूढाः) परममूढ हैं। वे सदा ऐसे ही मानते हैं, कि जो हम कर्म करते हैं वही श्रेष्ठ है। इससे इतर ज्ञानादि श्रेयस्कर-साधन कुछ भी कहीं नहीं है । ऐसे-ऐसे माननेवाले **नाकस्य पृष्ठे** स्वर्गके पीठपर चढ अपने सुकृतके फलोंको प्राप्त कर अर्थात् स्वर्ग—सुखको भोगकर फिर इस हीनतर लोकमें प्रवेश करते हैं ।

क्या ऐसे सकाम-कर्मके करनेवाले इस अमूल्य रत्न सन्न्यासको पासकते हैं ? कदापि नहीं ! ऐसे सकामसन्न्यासी भी उन्हीं मूर्खोंके समान नीचीवृत्तिको प्राप्त होते हैं । इसलिये बिना निष्कामकर्म साधन किये सन्न्यास दुरतर है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! इसीके प्रतिकूल [योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति] कर्मयोगको साधन करनेवाला मननशील प्राणी थोडे ही कालमें ब्रह्मको अर्थात आत्मज्ञान लक्षणयुक्त सन्न्यासको लाभ करता है ।

श्री शंकराचार्य्यने अपने भाष्यमें यहां ब्रह्म शब्दका परमात्मज्ञान-निष्ठालक्षणयुक्त सन्न्यास अर्थ किया है और कहा है, कि कर्मयोग-वाला, शीघ्र ही ऐसे सन्न्यासको प्राप्त होता है। तहां श्रुतिका भी प्रमाण दिया है " न्यास इति ब्रह्म । ब्रह्म हि पर इति श्रुतिः " इन दोनों प्रकारके अर्थोंमें कोई विभेद नहीं है । ब्रह्मका अर्थ साक्षात् परब्रह्म जगदीश्वर करो । अथवा परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणयुक्त सन्न्यास करो । दोनोंसे एक ही तात्पर्य्य निकलता है। कोशोंमें ब्रह्म शब्दके अनेक अर्थ हैं जो प्रसंगानुसार दिखलायेजावेंगे । यहां इस श्लोकमें केवल दो ही अर्थोंका तात्पर्य्य है । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि अर्जुन ! तू सन्न्यास द्वारा मोक्ष पानेकी अभिलाषा करता है सो सन्न्यास तुझको कर्मयोग करते-करते शीघ्र ही प्राप्त होगा इसलिये कर्मयोगमें प्रवृत्त हो ! अथवा तू जो सन्न्यास द्वारा परब्रह्म जगदीश्वर की प्राप्ति शीघ्र चाहता है सो तू ऐसा निश्चयकर जान ! किकर्मयोगमें प्रवृत्त होनेसे तुझको ब्रह्मकी प्राप्तिमें भी विलम्ब नहीं होगा क्योंकि कर्मयोगसे शीघ्र ही अन्तःकरणकी शुद्धि, तिससे सन्न्यास और तिस संन्याससे शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।

शंका— भगवान अर्जुनसे युद्ध करवाया चाहते हैं । इसलिये कर्मयोगकी प्रशंसाकर अर्जुनको कर्ममें प्रवृत्त किया चाहते हैं । इससे कपटव्यवहार सिद्ध होता है ! ऐसा क्यों ?

समाधान— ऐसी पोच शंका मतकरो! यह तो नास्तिकोंकी शंका है। अजी तुम नहीं जानते, कि कर्मयोग सन्न्यासका उपाय है। जैसे बिना बीज बोये कोई फल नहीं खाता, बिना कूप कोई जल नहींपाता, बिना पग किसीसे चला नहीं जाता और बिना गला कोई गीत नहीं गाता, इसी प्रकार बिना कर्मयोग कोई सन्न्यास नहीं पाता। क्योंकि सन्न्यास कोई ऐसा साधारण धर्म्म नहीं है, कि जो चाहे धारणकरले। जैसे सतीको पतिके साथ जलना, सूर्य्यचन्द्रको मुट्ठीमें बांधना, सात समुद्र पीजाना, वन्ध्याका पुत्र जनना, आकाशमें फूल फूलना और शशको शृंग निकलना असंभव है ऐसे बिना कर्मयोग सन्न्यासकी प्राप्ति कठिन है। सुनो! मैं तुम्हें सन्न्यासका मुख्य स्वरूप दिखलाता हूं जिससे तुमको बोध होजावेगा, कि सन्न्यास कैसा कठिन है। फिर तो तुम स्वयं जानजावोगे, कि अर्जुन इस सन्न्यासका अधिकारी नहीं है और तब तुम ऐसी पोच शंका नहीं करोगे।

स्मृतियों और श्रुतियोंने इस सन्न्यस्तकी चार श्रेणियां कथन की हैं इनमें परमहंस उत्तमोत्तम है इसलिये परमहंसका स्वरूप दिखलाया जाता है—

टिप्पणी— १. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस और ४. परमहंस इनमें पूर्वकी तीन अवस्थातक तो सन्यासके नियमोंका पालनकर कुछ न कुछ वैदिक कर्म तथा शरीर-यात्रानिर्वाहार्थ भोजन, शयनादि करना रहजाता है सो नियम-पूर्वक करना पड़ता है अर्थात कुछ न कुछ कर्म्मबन्धन रह ही जाता है। जैसे अग्नि न छूना, स्वर्णका स्पर्श न करना, दण्ड, कौपीन, कमण्डलु तथा काषाय-वस्त्रका धारण करना तथा धूम निवृत्त होजानेके पश्चात् ग्राममें नियमपूर्वक पांच ब्राह्मणोंके घरतक भिक्षाटन करना इत्यादि

श्रुतिः— "ॐ अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच तं भगवानाह योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु वाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्य कूटस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयतेऽसौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सत्रं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि सन्न्यस्यायं ब्रह्मांडं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत् तच्च न मुख्योऽस्ति कोऽयं मुख्य इति च यदयं मुख्यः ॥ १ ॥

न दण्डं न कमण्डलुं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमान इति षडूर्मिवर्जितो न शब्दं न स्पर्शं न रूपं न रसं न गन्धं न च मनोप्येवं निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोध लोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तसंशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तं, नित्यबोधस्तत्स्वयमेवावस्थितस्तं शान्तमचलमद्वयानन्द विज्ञानघन एवास्मि । तदेव मम परमं धाम तदेव शिखा तदेवो-

रहजाते हैं। पर जब चौथी अवस्था अर्थात् परमहंसकी अवस्था आती है तब इन बन्धनोंको भी त्याग केवल भगवत्स्वरूपमें मग्नरहना और मग्न होते-होते यहां तक अपने आपेको भूलजाना कि अपने इस शरीरका बोध तो तनक भी न रहे, सर्वत्र आत्मा ही आत्मा अर्थात् भगवत् स्वरूप ही भान होने लगजावे।

पवीतं च । परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सन्ध्या ॥ २ ॥

सर्वान्कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः । ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते । काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः । तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादि गुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा । स याति नरकान्घोरान्महारौरव संज्ञकान् । इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥३॥

आकाशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न निन्दा न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेत्स भिक्षुः । नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासितं च न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथग् नापृथगहं न सत्वं स सर्वं चानिकेतः स्थिरमतिरेवं स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च बाधको न चाबाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्स ब्रह्महा भवेद्यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसो भवेद्यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत्स आत्महा भवेत्तस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते दुःखे च नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहस्त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न मोदते च सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते । यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवति ॥ ४ ॥ (परमहंसोपनिषद् श्रु० १,२,३,४)

ये चार यथार्थ सन्यासको बतानेवाली श्रुतियां हैं । यों तो सन्यासोपनिषद् में सन्यासके ग्रहणकी विधि वेदमन्त्रों द्वारा संक्षिप्त रीतिसे

लिखी है पर यहां सन्यास ग्रहणकी रीतिसे इन श्रुतियोंका कुछ सम्बन्ध नहीं है। ये केवल स्वरूप बताती हैं अब इनका अर्थ सुनो !

अर्थ— एकबार नारदने भगवानसे जाकर पूछा, कि योगयुक्त सन्यासियोंका अर्थात् परमहंसोंका क्या मार्ग है ? और उनकी क्या स्थिति है ? भगवान्ने कहा ! यह जो परमहंसका मार्ग है वह अत्यन्त दुर्लभ है बहुत नहीं हैं अर्थात् कोई-कोई इस टेढी खीरके खानेमें समर्थ होता है। एक मनुष्य भी परमहंस होवे तो उसे **नित्यपूतस्थ** अर्थात् सदा पवित्र कहना चाहिये। वही प्राणी सदा पवित्र है। सो ही प्राणी + वेदपुरुष कहाजाता है अर्थात् ऋगादि वेदोंको उनके अंगोंसहित तथा दूसरे शास्त्रोंको भी उत्तम रीतिसे अध्ययनकर यथार्थ तत्त्वका ग्रहण करनेवाला है ऐसा विद्वान मानते हैं। फिर वही ❀ **महापुरुष** है अर्थात् महाकालोंका काल जो कालात्मा

टि०— तहां जावालोपनिषत्की श्रुति भी वहुतही थोडे पुरुषोंके नाम बताती है "तत्र परमहंसानां समवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासाऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिंगा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः।" अर्थात् उपनिषदोंमें तथा पुराणादि ग्रन्थोंमें केवल इन नव परमहंसोंके नाम देखेजाते हैं। १: सम्वर्तक। २. आरुणी ३. उद्दालक श्वेतकेतु। ४. दुर्वासा। ५. ऋभु (ब्रह्मपुत्र)। ६. निदाघ (ऋभुका शिष्य) ७. जडभरत। ८. दत्तात्रेय। ९. रैवतक (श्वेतराजाका पुत्र) ये परम पवित्रात्मा हैं।

+ **वेदपुरुषः** ऋगादीन् वेदान् सांगानन्यविद्यास्थानैः सहितान्पाठतोऽर्थतश्च योऽवगच्छति स वेदपुरुषः।

❀ **महापुरुषः**— महान् कालत्रये शून्यत्वेन कालात्मा स चासौ पुरि शयानोऽपि परिपूर्णः पुरुषो महापुरुषो भगवतो भेदशून्य इत्यर्थः।

भगवत्स्वरूप सो जिसके हृदयरूप पुरीमें शयन कररहा है इसलिये यह महापुरुष कहाजाता है अर्थात् जो भगवत्स्वरूप ही है । फिरै ऐसा प्राणी अपने चित्तको सर्वदा मुझमें लगाये रहता है। इसलिये भगवान् नारदसे कहते हैं, कि मैं भी सदा उसके साथ उसीमें निवास करता हूं । (असौ) ऐसा परमहंस अपने पुत्र, कलत्र, बन्धु इत्यादि तथा शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय (जो अपने वेद और शाखाको पठनकर तदनुसार सन्ध्यादिका प्रतिपालनं) इत्यादि सर्वप्रकारके नित्य, नैमित्तिक इत्यादि कर्मोको और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् इस लोकसे ब्रह्मलोकतकके सुखोंको त्यागकर केवल कौपीन, दण्ड इत्यादि और आच्छादन (वस्त्र) अपने शरीरकी रक्षामात्रकेलिये अथवा × लोकोपकारकेलिये रखे। किन्तु " तच्च न मुख्योऽस्ति " सो भी परमहंसोंकेलिये मुख्य नहीं है । फिर इनके स्थानपर क्या मुख्य है ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि (अयम्मुख्यः) यह मुख्य है ॥ १ ॥

न दण्डमित्यादि " अर्थात् परमहंसको न दण्ड, न शिखा, न यज्ञोपवीत न किसी अन्य प्रकारके वस्त्रादिके ग्रहण करनेकी आवश्यकता है । यदि शंका हो, कि जब किसी प्रकारका आच्छादन नहीं धारण करेगा तो शीत और उष्ण तथा वर्षाके समय शरीरका निर्वाह कैसे होगा ? तो उत्तरमें श्रुति कहती है, कि परमहंसोंको शीत, उष्ण, दुःख, सुख, मान और अपमान किसीका भी बोध नहीं होता। कारण

× कौपीन इत्यादिसे बोध होगा, कि यह व्यक्ति महापुरुष है इससे ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये !

इसका यह है, कि भगवत्-स्वरूपमें चित्त-वृत्तिके लय होजानेसे शरीरका चेत ही नहीं रहता। जैसे बालक खेलते समय नंगे होकर विचरते हैं उनको शीतादिका कुछभी दुःख नहीं होता इसी प्रकार परमहंसोंको भगवत्स्वरूपमें मग्न रहनेके कारण किसी प्रकारके क्लेशका अनुभव नहीं होता अतएव परमहंसोंकेलिये दण्ड, आच्छादनादिकी भी आवश्यकता नहीं है। इसकी मुख्यता नहीं है वरु दण्डादि धारण गौण है। केवल संकेतमात्र है। फिर परमहंसोंको * षडूर्मियां भी नहीं सतातीं। सो जिस परमहंसके चित्तकी वृत्तियां भगवत्स्वरूपमें लय होगई हैं और ब्रह्माण्डमात्रको त्यागदिया है उसे ये ऊर्मियां क्यों सतावेंगी ? नहीं सता सकतीं ! क्योंकि शब्द, रूप, रस, गन्ध, मन इत्यादि सब जाते रहते हैं। निन्दा, गर्व, मत्सर, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहंकार इत्यादि सर्वप्रकारके विकारोंको छोडकर अपने शरीरको " कुणपमिव दृश्यते " कुणप (मृतक) के समान देखता है। क्योंकि उसका शरीर अपध्वस्त होचुका है। जैसे अग्निमें भस्म होजानेपर मृतकके शरीरके परमाणु आकाशमें फैलकर वायुमें लय होजाते हैं, इन आंखोंसे देखे नहीं जाते। इसी प्रकार परमहंसने अपने शरीरको अपध्वस्त करके शरीरके परमाणुओंको ब्रह्मज्ञानके आकाशमें लय करदिया है। इसलिये उसके बोधमें कहीं शरीरका पता ही नहीं लगता। रोम-रोम, राम-राम वन-

* क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामरणमेव च — भूख, प्यास, शोक, मोह और जरा ये छै ऊर्मियां हैं अर्थात् संसार-समुद्रकी लहरें हैं।

जाते हैं। यदि शंका हो, कि अन्धकार रात्रिमें यात्रियोंको जो दिग्भ्रम (देशांस) लगजाता है वह सूर्य्योदयहोनेपर भी कुछ न कुछ रहजाता है। इसी प्रकार अज्ञानरूप अन्धकारके कारण जो शरीरमें गाढी प्रीति लगगई हो उसे ज्ञानके सूर्य्य उदय होनेपर भी कुछ न कुछ रहजानेकी शंका है तो उसके उत्तरमें भगवान् नारदसे कहते हैं, कि ऐसा नहीं होसकता। क्योंकि संशय, विपरीत, और मिथ्याज्ञान का कारण जो अविद्या तिसकी नित्य निवृत्ति अर्थात् सदाकेलिये निवृत्ति होजाती है। सो ही नित्य बोध है। जिससे सदा ज्ञान एक रस बनारहता है। आत्मा जो नित्य तिसके बोधसे कभी डिगता ही नहीं। उस नित्य बोधमें तो परमहंसकी स्वयं आपसे-आप स्थिति होजाती है। जैसे किसी महा उन्मादग्रस्त रोगीको सुषुप्ति लगजानेसे उसका बकना, चिल्लाना आपसे-आप रुकजाता है इसी प्रकार भगवत्-स्वरूपमें सुखपूर्वक शयन करजानेसे परमहंसको ऐसा बोध होता है, कि सो जो शान्त, अचल, *अद्वयानन्द, और विज्ञानघन परब्रह्म सो मैं हूं, सो ही मेरा परम धाम है, सो ही मेरी शिखा है, सो ही मेरा यज्ञोपवीत है और परमात्मा और आत्माके एकत्वरूप ज्ञानसे जो जीव ब्रह्मके भेदको मग्नकरके एकसंग मिलादेना है सो ही मेरी सन्ध्या है ॥२॥

अब भगवान् नारदसे कहते हैं, कि "सर्वान्कामानिति" सब कामनाओंको परित्यागकर तिस अद्वैतानन्द विज्ञानघनमें जो परम-

---

* अद्वयानन्दः—आनन्दात्माव्यतिरिक्तं वस्तुसदसदादिरूपम् तद्रहितो अद्वयः स चासावानन्दः सुखस्वरूपः।

स्थिति है ऐसे ज्ञानदण्डको जिस महापुरुषने धारण किया है सो ही एकदण्डी सन्यासी कहाजाता है । और इसके प्रतिकूल जो सन्न्यासीका वेषमात्र धारणकर काष्ठदण्ड अर्थात् बांसकी लट्ठीकोलिये महामूर्ख, ज्ञानसे वर्जित, सर्वाशी है अर्थात् मद्य, मांस, लशुन, मत्स्य, तथा सब जातियोंका स्पर्श कियाहुआ अन्न भक्षण करता फिरता है सो मूर्ख महा रौरवादि नरकोंमें प्रवेशकरता है । भगवान नारदसे कहते हैं, कि " इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंस " इस प्रकार जो ज्ञानदण्ड तथा काष्ठदण्डमें अन्तर जानता है सो ही परमहंस है ॥ ३ ॥

अब भगवान् नारदसे कहते हैं, कि जो परमहंस उक्त प्रकार शरीरको अपेध्वस्त करे शीत-उष्णको सम करडालता है उसकेलिये किसी अन्य आच्छादनकी आवश्यकता नहीं है, चाहें वह काषाय हो वा श्वेत हो, नवीन हो वा फटापुराना हो, मोटा हो वा पतला हो किसी प्रकारके वस्त्रकी आवश्यकता नहीं है । उसके लिये तो " आशाम्बर " अर्थात् आशा जो पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा वायव्यादि चारों कोण ऊपर तथा नीचे ये ही दशों दिशायें जिसके अम्बर हैं इसीलिये उसे " दिगम्बर " कहते हैं । फिर वह परमहंस कैसा है, कि " **न नमस्कारः** " न तो किसीको नमस्कार करता है और न किसीका नमस्कार लेता है गयादि तीर्थोंमें जाकर स्वधा नहीं करता अर्थात् श्राद्धादि भी नहीं करता । फिर कैसा है, कि निन्दा और स्तुतिसे रहित है । वह कैसा है, कि " ×याद्दच्छिक " है अर्थात् जो बहुतसे प्राणियोंको

× याद्दच्छिकः— सदन्नसत्वृत्तदुर्वृत्तत्वादि परित्यागेनानपकारिणीत्वात्मनो जन संगवर्जनहेतुः शास्त्र विवक्तिभ्यां प्रापितेच्छा यदृच्छा सा यस्यास्ति स याद्दच्छिकः ।

अपने समीप इस कारण नहीं आने देता, कि वे नाना प्रकारकी झूठी और सच्च गपोलोंसे तथा नाना प्रकारकी अपनी कामनाओंसे उसके मस्तिष्कको व्यग्र करेंगे। वही याद्दच्छिक कहाजाता है। सो भिक्षुक जो परमहंस वह याद्दच्छिक है। अथवा सन्न्यासियोंके लिये जो कुटीचकादि तीन अवस्था तक भिक्षाटन इत्यादिका ×निर्वन्ध है उससे रहित होवे। जब एवम् प्रकार क्षुरार्चनम् इत्यादि बंधोंसे निर्वन्ध होगा तो उसे न आवाहनकी, न विसर्जनकी, न मंत्रकी, न ध्यानकी और न उपासनाकी किसी भी कर्मकी आवश्यकता नहीं है, न उसका कोई लक्षण है न लक्ष्य है न कोई अलक्ष्य है। यदि शंका हो, कि उसका लक्ष्य नहीं है तो ब्रह्मकी ओर भी कुछ लक्ष्य नहीं होगा? इसलिये कहा, कि न अलक्ष्यम् परमहंसको अलक्ष्य भी मत कहो उसका लक्ष्य ब्रह्म है पर परमहंसको तुरीयावस्थाकी प्राप्ति होनेके कारण उसकी प्रज्ञा ब्रह्ममें लय होजाती है इसलिये प्रज्ञाके लय होते लक्ष्यका भी लय होजाता है इसी कारण न लक्ष्यम् कहा है। न किसीसे पृथक् है न अपृथक् है जहां न अहं है न त्वं है अर्थात् अविद्याके विकारसे जो मैं और तू का भ्रम होरहा है तिससे दूर है "न सर्वम्" अर्थात "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ईशावास्यमिदंꣳ सर्वम्" इत्यादि श्रुतिवाक्योंके अनुसार ब्रह्मसे इतर जो सर्व सो कुछ भी नहीं है। फिर वह परमहंस "अनिकेतस्थितिरेव" है अर्थात् जो अपने निवास करनेके लिये किसी प्रकारके मठादिको न बनाकर वृक्षोंके

×"शौचं स्नानं ध्यानं क्षुरार्चनम्। कर्त्तव्यानि षडेतानि सदा नृप दण्डवत्" अर्थात् नृपके दण्डके समान इन उक्त कर्मोंको करना चाहिये। यह निर्वन्ध है।

तले टूटे फूटे स्थानोंमें, नदीके तटपर, श्मशानोंमें, किसी वाटिकामें वा सडकोंकी नालियोंमें कहीं भी पडारहे उसे अनिकेतस्थिति कहते हैं। सो भिक्षु जो परमहंस सो घर बनाकर न रहे। फिर स्वर्ण इत्यादि द्रव्यका दर्शन न करे अर्थात् सोना चांदी न ग्रहण करे। और " लोकम् " संसारियोंको अपने समीप न घुसने देवे यहां तक, कि शिष्य इत्यादिका भी सम्बन्ध न रक्खे। इतना ही नहीं वरु " न अवलोकं च " उसकी ओर आंख उठाकर देखे भी नहीं। यदि शंका हो, कि स्वर्णादिके ग्रहण करनेमें क्या हानि है? भिक्षादिके लिये जो पर्यटन करना पडता है तथा अन्य लोगोंसे याचना पडता है इस में जो समय इत्यादिकी हानि होती है तिसकी रक्षा निमित्त तथा परोपकार निमित्त वा परतन्त्रताके नाश निमित्त यदि स्वर्णका ग्रहण करे तो इसमें बाधक कौन है? तो सुनो! ऐसे स्वर्ण ग्रहण करने में अवश्य बाधा है। क्योंकि परमहंस जितना परोपकार अपनी इच्छाशक्तिसे करसकता है उतना स्वर्णसे नहीं करसकता। यदि कोई प्राणी परमहंसको दो चार भार स्वर्ण देजावे तो उससे बहुत थोडे पुरुषोंका उपकार करेगा, पर यदि वह सच्चा परमहंस ब्रह्मस्वरूप होगया हैं तो जिसे चाहे वचनमात्रसे चक्रवर्ती बना सकता है तो उसको थोडासा स्वर्ण ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन? निरर्थक है। वह जबसे वह स्वर्ण ग्रहण करेगा तबसे उस स्वर्णकी रखवालीकी चिन्ता बनी रहेगी वृत्ति चंचल होपडेगी। यदि कहो, कि वृत्ति चंचल क्यों होगी? उस स्वर्णको मिट्टी समान समझ जहां तहां पडारहने देगा। तबतो सहस्र भार स्वर्ण रखदो, उसके समीप पत्थरके

समान पडा रहेगा। अन्यथा स्वर्णग्रहणकरना बाधक है। इसलिये भगवान् नारदसे कहते हैं, कि "बाधकोस्त्येव" स्वर्णादि ग्रहण करना बाधक है। क्योंकि जो भिक्षुक (रसेन) प्रीतिपूर्व्वक उस स्वर्णको देखता है, कि यह स्वर्ण है, जिसकी आंखमें स्वर्णकी चमक सुहावनी बनी रहती है वह * ब्रह्महा है। क्योंकि उसके हृदयमें स्वर्णकी प्रीतिने ब्रह्मकी प्रीतिको हनन करडाला है। फिर भगवान् नारदसे कहते हैं, कि जो परमहंस (रसेन) अभिलाषा-पूर्वक स्वर्ण स्पर्श करता है वह × पौल्कस अर्थात् नीच मछुये धींवडके तुल्य है। जो प्रीतिपूर्वक स्वर्णका ग्रहण करता है वह आत्महा होता है। इसलिये परमहंस न स्वर्णको देखे, न छूवे, न ग्रहणकरे।

प्रिय पाठको! इस छूनेका यह तात्पर्य्य नहीं है, कि स्वर्णको न छूवे, पर जितने स्वर्ण वा अशरफियां उसके पास हों रुबोंका करन्सी वा प्रौमिसरी नोट बदलाकर अपनी गीताकी पोथीके गातेमें रखलेवे। क्योंकि गीताके कागदको तो वह छूता ही है। फिर नोटके छूनेमें क्या हानि है? तो इसका ऐसा तात्पर्य्य नहीं है वरु मुख्य अभिप्राय यह है, कि धनका

---

* "ब्रह्मैव सत्यमन्यन्मिथ्येत्यनंगीकाराद् ब्रह्महा तेन हतमिव भवति तेन ब्रह्महा भवेत्" केवल ब्रह्म ही सत्य है अन्य सब मिथ्या है ऐसा जो अंगीकार नहीं करता अर्थात् जिसकी वृत्ति इस स्वरूपसे हत होजाती है वह ब्रह्महा कहलाता है।

+ पौल्कसः—"निषादाच्छूद्रायां जातः पुल्कसः। मांस विशसितान्त्यजजातिविशेषः॥ (कसाई)

किसी प्रकार संग्रह न करे । अर्थात् वृत्तिमें धन संग्रहका रस (प्रीति) नहीं रखे । यों छूने वा देखनेसे कोई हानि नहीं है।

अब भगवान् नारदसे कहते हैं, कि " सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तेत " परमहंस अपनी सर्वप्रकारकी कामनाओंकी निवृत्ति करे । दुःखमें उद्विग्न न हो, सुखमें स्पृहा न करे, रागका परित्याग करे और सर्वत्र सर्व प्रकारके शुभाशुभसे स्नेह रहित हो, न किसीसे द्वेषकरे और न किसीसे हर्षित हो सर्वप्रकारकी इन्द्रियोंकी गतिको दूर करदेवे। एवम् प्रकार जो परमहंस सबकुछ त्याग, वरु त्याग-कामी त्याग करके सर्वत्र समबुद्धि हो केवल आत्मामें स्थिर होकर " आत्माराम " होजाता है और एक पूर्णानन्द बोधरूप जो ब्रह्म सो मैं हूं ऐसा समझता है सो कृत-कृत्य होजाता है । सो कृत-कृत्य होजाता है । यहां दोबार " कृतकृत्यो भवति " श्रुतिकी समाप्तिके निमित्त है ॥ ४ ॥

अब हे प्रतिवादी ! तू ही अपनी कुशाग्रबुद्धिसे विचारकर देख, कि यह सन्न्यास कितना कठिन है । क्या अर्जुन ऐसे राजवंशावतंसकेलिये ऐसे दुर्गम पथका उपदेश करना उचित है ? क्या अर्जुन इस यथार्थ सन्न्यासको ग्रहण करसकता है ? एक वर्षके बच्चेको कोई कहे, कि तुम सौ योजन दौडजाओ तो क्या वह दौडसकता है ? यदि कहो, कि तुम अर्जुनको अवतार कहचुके हो फिर ऐसा निर्बल क्यों कहते हो ? तो उत्तर यह है, कि इस समय अर्जुनने संसारके उपकार निमित्त अवतार-शक्तिको गुप्त रखकर नरोंके समान अज्ञानता

प्राप्त की है। इसलिये भगवानको उसकी अपेक्षा लेकर संसारके कल्याण निमित्त उचित उपदेशकरना योग्य है। इसी कारण हे प्रतिवादी ! तू अर्जुनको केवल कर्मयोगका अधिकारी जान । केवल अर्जुनकेलिये सन्न्याससे कर्मयोगको विशेष कहरहे हैं। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि यथार्थमें सन्न्याससे कर्मयोग विशेष है क्योंकि भगवान्का यह उत्तर सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं।

इसी कारण भगवान् अर्जुनके प्रति इस कर्मयोगका ही वर्णन करते चले आरहे हैं और छठवें अध्यायकी समाप्ति तक इसी विषयका वर्णन करेंगे। जिसके साधनसे प्राणियोंको शीघ्र सन्न्यास लाभ होताहुआ ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होजावे। इसीलिये भगवान् इस श्लोकमें बिना कर्मयोगके सन्न्यासको दुष्प्राप्य कहकर कहते हैं, कि "योगयुक्तः" जो कर्मयोगसे युक्त है वह "अचिरेण" बहुतही शीघ्र ब्रह्मको लाभ करता है। क्योंकि कर्मकी गति जानलेनेसे सर्वप्रकारसे मार्गोंका उसे अभ्यास होजाता है । इन्द्रियोंके वशीभूत रखनेका ढंग जानजाता है। बिना अन्न, जलके क्षुधा पिपासाकी शान्ति करने और शीत, उष्णके शम करनेका ढंग जानजाता है । दुःख, सुख, मान, अपमान, हानि और लाभको सम करनेका अभ्यासी होजाता है ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की भगवन् ! ऐसा देखाजाता है, कि जिस कर्मका इस मनुष्यको अभ्यास पडजाता है, वह कर्म इसका स्वाभाविक होजाता है । जिसका छूटना भी कठिन है। जैसे कोई अपनी तर्जनी अँगुली दिन रात दायें बायें हिलाया करे तो फिर वह

हिलाता ही रहता है । इसी प्रकार कर्मयोगीको जब कर्मयोग करते-करते स्वाभाविक होजावेगा फिर तो कर्मका त्याग उससे कठिन होजावेगा । तब तो सन्न्यासकी प्राप्ति उसे होही नहीं सकती । इसलिये कर्मयोग से कर्मसन्न्यास की प्राप्ति दुष्प्राप्य देखीजाती है ।

इतना सुनकर श्री आनन्दकन्द मुसकराकर बोले अर्जुन सुन !

मू०— योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— योगयुक्तः (कर्मयोगेन युक्तः) विशुद्धात्मा (निर्मलान्तःकरणः) विजितात्मा (विजितस्वभावः । वृत्तिसारूप्य-दोषेण हीनः प्रत्यक् चेतनो यस्य सः) जितेन्द्रियः (विजितानि वागादीनीन्द्रियाणि यस्य सः) [तथा] सर्वभूतात्मभूतात्मा (सर्वे-षाम्ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तानाम्भूतानामात्मभूत आत्मा प्रत्यक् चेतनोऽयस्य सः । अखण्डात्मसाक्षात्कारवान् वा) कुर्वन् (विविधानि कर्माणि सम्पादयन्) अपि, न (नैव) लिप्यते (कर्मभिर्बध्यते) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (योगयुक्तः) जो मनुष्य कर्मयोगमें युक्त है इसलिये जो (विशुद्धात्मा) निर्मल अन्तःकरणवाला होरहा है और इसी कारण (विजितात्मा) सर्वप्रकारके स्वभावोंको जिसने जीतलिया है तथा (सर्वभूतात्मभूतात्मा) ब्रह्मसे लेकर एक घासके अंकुर पर्य्यन्त जड चैतन्य भूतोंका जो आत्मा सो ही जिसका आत्मा है । सो (कुर्वन्) नाना प्रकारके कर्मोको करताहुआ (अपि)

भी (न लिप्यते) कर्मोंमें बद्ध नहीं होता अर्थात् अभ्यास वा स्वभावके अधीन नहीं होता ॥ ७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह शंका कीहै, कि कर्म करनेवालेको कर्मका अभ्यास पडजानेसे जब कर्मकरना स्वाभाविक वृत्ति होजावेगी तो फिर उससे कर्मत्याग (सन्न्यास) का साधन होना कठिन होजावेगा । क्योंकि स्वभावका छूटना दुस्तर है । इस शंकाके समाधानमें भगवान् कहते हैं, कि [**योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः**] जो कर्मयोगी योगयुक्त है; अर्थात् कर्मयोगमें प्रवीण कर्मफलोंकी इच्छा तथा कर्तृत्त्वाभिमानसे शून्य होकर निर्द्वन्द्व रहता है और **विशुद्धात्मा** है अर्थात् जिसका अन्तःकरण शुद्ध होरहा है, जिसकी बुद्धि आकाशवत् निर्म्मल और स्वच्छ होरही है, सर्वत्र सर्वप्रकारके विषयोंसे अनभिस्नेह होरहा है, जिसके चित्तमें राग द्वेषका लेश भी नहीं है, जो **विजितात्मा** है अर्थात् आत्मा जो दैहिक-स्वभाव तिसे जिसने जीत लिया है, अपने शरीरको अपने वशमें करलेनेके कारण जिसकी प्रकृति अपने वशीभूत होगई है, चाहे किसी प्रकारके दैहिक आपत्ति वा दैहिक-सुख उसे प्राप्त क्यों न होजावें पर जो तनक भी अपने स्थानसे नहीं टलता; सदा आत्मवान् रहता है, आगे-पीछे नीचे-ऊँचे सर्वप्रकार सावधान रहता है, कभी किसी विषयके धोखेमें नहीं पडता, जैसे पर्वत बूंदोंकी आघातको चुपचाप शान्तिपूर्वक सहन करता है इस प्रकार जो स्तुति निन्दाको सहन करताहुआ हर्ष विषादसे रहित रहता है। और (जितेन्द्रियः) इन्द्रियजित और यतचित्तात्मा होजाता है, सहस्रों

अप्सराओंके मध्य जो आनन्दपूर्वक निवास करता हुआ ऊर्ध्वरेता बना रहता है और उसके चिक्कण-चित्तपर विषयकी छींटें नहीं पडतीं, वही प्राणी [सर्वभूतात्मभूतात्मा] ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त जितने जड चैतन्य हैं सबोंकाआत्मभूत है। अर्थात् वह सबोंको अपना आत्मा समझता है। और सबोंमें अपने आत्माको समझता है सर्वत्र एक ही आत्माको व्यापक जानता है। ऐसा समझता है, कि यह जो पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादिके भेद हैं वे केवल भ्रममात्र हैं, तत्वतः आत्मामें कोई भेद नहीं। केवल पंचभूतोंके आकारमात्र ही भेद देखपडता है। यथा श्रुतिः—

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्न बहुधैकोऽनुगच्छन् उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"

अर्थ— यह जो ज्योतिरात्मा सूर्य है वह जलकी भिन्नताके कारण नाना प्रकारके छोटे बडे रूपोंको धारण करता है। जलके स्थिर होनेसे स्थिर और चंचल होनेसे चंचल होजाता है। पर यथार्थमें विकारवान् नहीं होता। इसी प्रकार यह आत्मा नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न पांचभौतिक-पात्रोंके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारके आकासे भासरहा है, पर यथार्थमें सर्वभूतान्तरात्मा एक ही है। इसी प्रकार जिसने अपने आत्माको समझा है वही सर्वभूतात्मभूतात्मा कहा जाता है।

शंका— यदि सर्वभूतात्मभूतात्मा है तो चौरासीलक्ष-योनियोंके स्वभाव भी उस एक ही पुरुषमें होने चाहियें ? अर्थात् वानरोंके समान किलकिलाना, व्याघ्रोंके समान गरजना, हस्तियोंके समान चिंघार मारना, पक्षियोंके समान उडना इत्यादि सब स्वभावोंसे उसे बद्ध होना चाहिये। ऐसा तो नहीं देखनेमें आता फिर उसे सर्वभूतात्मभूतात्मा क्यों कहा ?

समाधान— ये जो भिन्न-भिन्न चेष्टायें हैं वे आत्माकी नहीं हैं। आत्मा तो निर्लेप और निर्विकार है। इसी कारण भगवान यहां "सर्वभूतात्मभूतात्मा" कहरहे हैं पर "सर्वस्वभावात्मस्वभावात्मा" नहीं कहते। स्वभाव तो अभ्यास द्वारा देहमें पडता है आत्मामें नहीं। इतना तो अवश्य मानने योग्य है, कि जब आत्मा उस देहके सम्मुख होता है तब देहको स्वभावानुसार चेष्टा करनेकी शक्ति प्रदान करता है। सो भगवान अभी कहचुके हैं, कि कर्मयोगी विजितात्मा होता है अर्थात् देह और स्वभावको जीत कर देह और स्वभावसे विलग होजाता है। उसकी अपनी देह भी उसके सम्मुख नहीं रहती है। एवम् प्रकार जब देह ही नहीं तो देहमें स्थित रहनेवाले स्वभाव कहांसे आवें। ऐसे प्राणीके समीप किसी देहके स्वभाव नहीं जाते सब उस सर्वभूतात्मभूतात्मामें अवश्य होजाते हैं पर देहके स्वभाव नहीं होते।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो कर्मयोगी एवम् प्रकार योगयुक्त विशुद्धात्मा, विजितेन्द्रिय और सर्वभूतात्म-भूतात्मा है वह [कुर्वन्नपि न लिप्यते] सबकुछ करताहुआ भी किसी कर्मसे बद्ध नहीं होता। इसी कारण कर्मके करनेका स्वभाव भी उसे हानि नहीं पहुंचा सकता। उसे कर्म-सन्न्यासका पूर्ण अधि-कारी समझो॥ ७॥

अब श्यामसुन्दर अगले श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि वह कौनसी बुद्धि है जिससे सब कर्म करताहुआ भी प्राणी कर्म-बद्ध नहीं होता।

मू०— नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— युक्तः (कर्मयोगयुक्तेन समाहितचित्तः) तत्त्ववित् (कर्मणां याथात्म्यं तत्त्ववेत्ता । परमार्थदर्शी) पश्यन् (अवलोकयन् । प्रेक्षमाणः । ईक्षणं कुर्वन्) शृण्वन् (आकर्णयन्) स्पृशन् (हस्तेनालपयन्) जिघ्रन् (घ्राणं कुर्वन् । आघ्राणयन्) अश्नन् (स्वादयन् । भक्षयन् । चर्वयन्) गच्छन (गमनक्रियां कुर्वन्) स्वपन् (शयनं कुर्वन्) श्वसन् (अनुप्राणयन) प्रलपन (संभाषमाणः । व्याहरन्) विसृजन् (परित्यजन्) गृह्णन् (आददानः) उन्मिषन् (चक्षुरुन्मीलयन्) निमिषन् (चक्षुर्निमीलयन्) अपि, इन्द्रियाणि (श्रोत्रचक्षुरादीनि वाह्यकरणानि) इन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु) वर्त्तन्ते (तिष्ठन्ति) इति (एवम) धारयन (बुद्ध्या निश्चयं कुर्वन) किंचित् (ईषत । अल्पम) एव, न (नैव) करोमि (व्यवहारामि । विदधामि) इति (एवम्) मन्येत (चिन्तयेत) ॥ ८, ९ ॥

पदार्थः— (युक्तः) जो प्राणी कर्मयोगसे युक्त होनेके कारण समाहित-चित्त होरहा है तथा (तत्त्ववित्) यथार्थ तत्वका जानने वाला परमार्थदर्शी है वह (पश्यन्) देखताहुआ (शृण्वन्)

सुनताहुआ (स्पृशन्) छूताहुआ (जिघ्रन्) सूंघताहुआ (गच्छन् चलताहुआ (स्वपन्) सोताहुआ (श्वसन्) श्वासोच्छ्वास लेताहुआ (प्रलपन्) वचन बोलताहुआ (विसृजन्) मल मूत्र परित्याग करताहुआ (उन्मिषन्) आंखोंको खोलकर देखताहुआ तथा (निमिषन्) पलकोंको बन्द करताहुआ अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राणापानादि वायुओंका व्यापार करताहुआ (अपि) भी (इति धारयन्) ऐसा निश्चय करताहुआ, कि (इन्द्रियाणि) ये सब इन्द्रियां (इन्द्रियार्थेषु) अपने-अपने विषयोंमें (वर्त्तन्ते) स्वतः वर्त्तमान रहती हैं (नैव किंचित् करोमि) मैं स्वयम् कुछ नहीं करता (इति मन्येत) ऐसा माने ॥ ८, ९ ॥

भावार्थः— किस प्रकारकी बुद्धिसे प्राणी सब कुछ करता हुआ भी कर्मोंमें नहीं फँसता। अर्थात् उसके कर्म स्वाभाविक नहीं होजाते हैं। इसी तात्पर्यको स्वच्छरूपसे श्यामसुन्दर योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रति दो श्लोकोंमें उपदेश करतेहुए कहते हैं, कि [**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्**] जो तत्त्ववित् कर्म-योगसे युक्त होकर समाहितचित्त होरहा है अर्थात् सर्व प्रकार सावधान होरहा है वही युक्त कहाजाता है। जैसे बाजीगर सूक्ष्म डोरेपर चलता-हुआ अपने शरीरपर समाहितचित्त रहता है। जैसे पनिहारी अपने मस्तकके घटपर समाहित-चित्त रहती है। एवम् प्रकार जो भगवत्-स्वरूपमें समाहि-त-चित्त है वही तत्त्ववित् योगयुक्त कहलाता है। वही यथार्थ तत्त्वका जान-नेवाला परमार्थदर्शी है और वही ऐसा मानता है, कि मैं सबकुछ करता हुआ भी कुछनहीं करता। जो प्यासा जलके धोखेसे एक बार भी मृगतृष्णाके

समीप पहुंचकर मृगतृष्णाका मर्म जानचुका है वह फिर कभी धोखा नहीं खाता। इसी प्रकार कर्मोंके-मर्मका जाननेवाला कर्मोंके फन्देमें नहीं फँसेगा। इसीलिये भगवान अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे पार्थ! जिस बुद्धिसे कर्मोंके मर्म जानेजाते हैं सो सुन! जो ऐसा योगयुक्त और तत्त्ववित् है वह सदा अपने अन्तःकरणसे ऐसा समझे, कि मैं सबकुछ करताहुआ भी कुछ नहीं करताहूं। अब वह किन कर्मोंको करताहुआ कुछ नहीं करता है सो कहते हैं—[पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्] देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, सोता तथा श्वासोच्छ्वास करताहुआ ऐसा समझता है, कि मैं कुछ नहीं करता। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ऐसा प्राणी कुकर्मियोंको कुकर्ममें और सुकर्मियोंको सुकर्ममें प्रवृत्त देखताहुआ तथा ग्रीष्मऋतुके सूर्य्य और शरद्-ऋतुके पूर्णचन्द्रको पूर्णप्रकार अवलोकन करताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ भी नहीं देखा।

(शृण्वन्) अपने कानोंसे अपनी अथवा परायेकी स्तुति निन्दा, वंशी, वीणा, मृदंग इत्यादिकी सुरीली ध्वनि षोडशी स्त्रीके मधुर गानोंके साथ सुनताहुआ तथा अपने प्रिय-पुत्रकी मधुर तोतली बातोंको वा अपने विरोधियोंके कटु बचनोंको सुनताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ नहीं सुना।

(स्पृशन) अग्नि वा जलको तथा अपनी गौरांगी हंसगामिनी कामिनीके कोमल अंगोंको अथवा कंटकंबनके तीक्ष्ण कंटकोंको, उष्ण-कालकी तपीहुई रेतियोंको, शीतकालके जमेहुए हिमखण्डोंको, बिना

अस्त्र भूमिपर शयन करतेहुए भूमिकी कठोरताको और पुष्पोंकी शय्या-पर लोटमारतेहुए शय्याकी कोमलता इत्यादिको स्पर्शकरताहुआ, ऐसा जाने, कि मैंने कुछ नहीं स्पर्शकिया, ।

(जिघ्रन्) वेला, चमेली, मोगरा, मदनबाण, रायवेल, मदन-मालती, चम्पक, करवीरादि पुष्पोंके मधुर गंधोंको अथवा श्मसान् घाटके जलतेहुए मृतक शरीरोंके दुर्गन्धको घ्राण करताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछनहीं सूंघा ।

(अश्नन्) नाना प्रकारके षट्रस भोजनोंको अथवा बिना लवण रूखी-सूखी रोटियोंको भोजन करताहुआ ऐसा समझे, कि मैंने कुछ-नहीं भोजन किया ।

(गच्छन्) कोमल गलीचेके बिछावन होकर चलताहुआ अथवा कठोर पत्थरों और कंकरों पर चलताहुआ ऐसा समझे, कि मैं कहीं भी नहीं चला ।

(स्वपन्) पथरीली भूमिपर कंकडोंमें अथवा दूधके फेन समान कोमल बिछावनपर तकिये वा गलतकिये लगाकर शयन करताहुआ ऐसा जाने, कि मैं कहीं नहीं सोया ।

(श्वसन्) किसी प्राणीका सुख सुनकर हर्षसे वा दुःख सुनकर शोकसे श्वास लेताहुआ अथवा साधारण रीतिसे श्वासोच्छ्वास करताहुआ ऐसा समझे, कि मैं श्वास भी नहीं लेता ।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ले और सुन ! [प्रलपन्‌ विसृजन्‌ गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि]

(प्रलपन्) किसी अपने मित्र वा शत्रुके संग बातें करताहुआ अथवा किसी विषयके खण्डन, मण्डनमें वेद शास्त्रोंके प्रमाणोंका उच्चारण करताहुआ अकेला किसी मार्गपर गमन करताहुआ अथवा किसी अपने शिष्य, भृत्य वा अपने बालकपर शिक्षानिमित्त भर्त्सना करताहुआ अर्थात् डपटताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ भी संभाषण नहीं किया ।

(विसृजन्) मल-मूत्र परित्याग करताहुआ अथवा अपनी वस्तुको अपनेसे विलग हटाताहुआ स्वर्ण, हीरा, मणिक इत्यादि रत्नोंका त्याग करताहुआ वा दान देताहुआ ऐसा समझे, कि मैंने कुछ भी नहीं किया ।

(गृह्णन्) हस्त इन्द्रियका व्यापार करताहुआ अर्थात् कोई कुछ देवे तो उसे स्वीकार करताहुआ युद्धसमय खड्ग, यज्ञ समय आहुति प्रोक्षणीपात्र वा चमसा इत्यादि, गान समय वादित्र (नाना-प्रकारके बाजे) दान समय तिल, कुश और स्नान समय धौत वस्त्र इत्यादिका ग्रहण करताहुआ तथा लोहे और पारसमणिको समभावसे ग्रहण करताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ भी ग्रहण नहीं किया ।

(उन्मिषन्निमिषन्) पलकोंको खोलता वा मूंदताहुआ अर्थात् किसी ओर देखता वा किसी ओर नहीं देखताहुआ भी ऐसा समझे, कि मैं पलकोंको न खोलता हूं और न मूंदता हूं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्**] एवम् प्रकार विचारता हुआ, कि ये जितने

कार्य्य मेरे द्वारा होते हैं उन्हें मैं नहीं करता हूं ये तो इन्द्रियां स्वयं अपने-अपने विषयोंमें वर्त्तमान रहती हैं ऐसा जानकर यों समझता रहे, कि मैं कुछ नहीं करता। ऐसे समझनेवालेको कर्मोंके अभ्याससे कुछ भी बाधा नहीं होसकती। वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होसकता और न वे कर्म उसे स्वाभाविक होसकते हैं। क्योंकि वह प्राणी **सर्वभूतात्मभूतात्मा** होचुका है। इसलिये इन सब कर्मोंको आत्ममय जानता है और यही समझता है, कि इन सब क्रियाओंका मुख्य प्रकाश यही आत्मा है। यदि आत्मवान् हो तो ये क्रियाएं कदापि नहीं होसकतीं। क्योंकि पंचभूतोंमें क्रियात्मकशक्तिमात्र तो है पर ज्ञानात्मकशक्ति नहीं है। क्रियात्मकशक्ति बिना ज्ञानात्मकशक्तिके निरर्थक है। जैसे बसोले, रुखानी, खड्ग, छुरे, छुरी, इत्यादिमें काटनेकी शक्ति तो है, पर वे स्वयम् जड हैं। इसलिये जबतक चैतन्यशक्ति जो ज्ञानस्वरूप है इन शस्त्रोंको अपने हाथमें न ले तबतक इनसे कुछ क्रिया नहीं होसकती। इसी प्रकार देह और इन्द्रियां जो शस्त्रके समान हैं बिना आत्मरूप तक्षक (बढई) के कुछ नहीं करसकतीं। तहां श्रुतिका प्रमाण है, कि यह आत्मा ही इस देहमें इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें स्थित होनेकी शक्ति प्रदान करता है। " श्रु०— ॐ **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो वा यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्च चक्षुः** (केनोपनिषत् श्रुति २ में देखो)।

अर्थ— आत्मा ही कानका भी कान है; मनका भी मन है, बचनका भी बचन है, प्राणका भी प्राण है और नेत्रका भी नेत्र है, अर्थात् ये जितनी कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, प्राणापानादि इस देहमें वर्त्तमान

हैं सब बिना आत्मा निरर्थक और निर्जीव हैं । केवल एक आत्मा है जो इन सबोंमें अपनी शक्ति द्वारा इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका सम्पादन करवाता है । सो आत्मा यदि निस्पंदत्वको अंगीकार करे अर्थात् इसका करना किसी देहसे रुकजावे तो इन इन्द्रियोंसे कार्य्य सिद्ध नहीं होसकता। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है, कि आत्मा कानके ऐसा कोई इस कानसे बडा विशेष कान है। यदि यह अर्थ हो तो फिर उस कानका एक दूसरा कान होना चाहिये । एवम् प्रकार कानका कान होतेजानेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी । इसलिये यहां कानका कान वा मनका मन कहनेसे यह तात्पर्य्य है, कि यह आत्मा ही सब इन्द्रियादिकोंका प्रकाशक है । इस एकहीके प्रकाशसे भिन्न उपधियोंके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्य्य देखने पडते हैं। इसी कारण योगयुक्त तत्वदर्शी सर्वत्र आत्मक्रीडा समझकर ऐसा समझता है, कि मैं कुछ नहीं करता । जब ऐसी समझ बनी रही तो प्राणी कर्मके अभ्यासमें बद्ध अर्थात् कर्म करते रहनेके स्वभावमें बद्ध नहीं होता । जब चाहे तब ही कर्म-योगसे सन्यास लाभ करसकता है । इन दो श्लोकोंके द्वारा भगवान् ने अर्जुनकी शंकाका समाधान करदिया है ।

शंका— " **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते** " " **कुर्वन्नपि न लिप्यते** " इत्यादि वचनोंको पढकर बहुतेरे कुविचारी मूढ यों कहने लगजाते हैं, कि हम जो वेश्याके घरमें जाकर व्यभिचार करते हैं सो तो गीताके वचनोंके अनुसार ही करते हैं । क्योंकि भग-वान् स्वयं अपने मुखसे कहरहे हैं, कि प्राणी ऐसा जाने, कि इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंमें वर्त्तमान रहती हैं. ऐसी प्रकृति बनी हुई है और

कर्म करनेवाला ऐसा जाने, कि कुछ नहीं करता फिर विद्वान ज्ञानी हम लोगोंको दूषित और पापी क्यों समझते हैं ?

समाधान— जहां-जहां भगवानने ऐसे बचन कहे हैं तहां तहां यह भी कहा है, कि ज्ञानी कर्मका बद्ध नहीं होसकता। सो ज्ञानीका लक्षण जबतक मनुष्यमें नहीं पायाजावे तबतक वह इन बचनोंके समीप नहीं आसकता। देखो इस श्लोकमें जब भगवानने जहां कहा है, कि " नैव किञ्चित करोमीति " तथा " इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते " तहां यह भी तो कहा है, कि "युक्तो मन्येत तत्त्ववित् " अर्थात जो योगयुक्त है और तत्त्ववित हैं वही ऐसा जानेगा, कि मैं सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंमें आपही वर्त्तमान रहती हैं। इसी प्रकार जहां " कुर्वन्नपि न लिप्यते " कहा है तहां यह भी कहदिया है, कि " योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रयः " (श्लो० ७) अर्थात् केवल वही प्राणी जो योगयुक्त, निर्मलात्मा है तथा जिसने अपनी इन्द्रियोंको अपने वशीभूत किया है उसीकेलिये यह वचन है, कि (कुर्वन्नपि····) कर्म करता हुआ भी कर्मसे बद्ध नहीं होता। क्यों कि सो योगयुक्त ज्ञानी किसी प्रकारका दुष्कर्म करेहीगा नहीं। इसलिये यह तुम्हारी शंका महा पोच है, क्योंकि ये बातें संयतात्माके लिये हैं न कि असंयतात्माके लिये ॥ ८, ९ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन! तुम्हारे कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि जो ज्ञानी इंद्रियजित तथा कर्माभिमानसे शून्य है और

तत्वदर्शी है, उससे पाप नहीं होगा। पर मैंने तो इतिहास, पुराणोंमें बहुतेरे तत्वदर्शी महान् ज्ञानियोंको पाप करते सुना है ऐसा क्यों ?

यह सुन भगवान् बोले—

मू०— ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

पदच्छेदः— यः (तत्त्ववित्) ब्रह्मणि (सर्वान्तर्यामिणि) आधाय (समर्प्य) संगम् (कर्मफलासक्तिम्) त्यक्त्वा (विहाय) कर्माणि, करोति (सम्पादयति) स, अम्भसा (उदकेन) पद्मपत्रम् (नलिनीदलम्। सरसिजदलम्) इव (सदृशम्) पापेन (किल्बिषेण । अशुभाचरणेन) न (नैव) लिप्यते (वध्यते । अवकुंठितो भवति) ॥ १० ॥

पदार्थः— जो तत्त्वदर्शी (ब्रह्मणि) सर्वान्तरयामी सर्वेश्वरमें (आधाय) समर्पण करके वा स्थापन करके (संगम्) कर्मके फलकी आसक्तिको (त्यक्त्वा) त्यागकर (कर्माणि) कर्मों को (करोति) करता है (स) सो ज्ञानी (अम्भसा) जलसे नहीं लिप्त हुए (पद्मपत्रमिव) कमलदलके समान (पापेन) अशुभ कर्मसे (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता है अर्थात् पापाचरणमें नहीं फंसता ॥ १० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंको भी पापाचरण करतेहुए इतिहास पुराणों द्वारा सुनाजाता

है ऐसा क्यों ? इसके उत्तरमें श्री गोलोक विहारी कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी एकबारगी " अहंकारविमूढात्मा " अहंकार-वश मूर्खताके कारण " कर्ताऽहमिति मन्यते " मैं करता हूं ऐसा मानता है और कर्मके फलोंको ईश्वरमें अर्पण नहीं करके कर्मोंके फल में आसक्त चित्त है वह " समाधौ न विधीयते " (अ० २ श्लो० ४४) समाधिको अर्थात् भगवत् स्वरूपको नहीं प्राप्त होता । पर जो पुरुष [ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः] अन्तर्यामी सर्वेश्वरमें अपने कर्मके फलोंको अर्पण करदेता है अर्थात् ऐसा जानता है, कि जो कुछ मैं करता हूं वह अपने लिये नहीं। जैसे भृत्य अपने स्वामीके लिये सर्व कार्योंका सम्पादन करता रहता है ऐसे मैं उस जगत्हितकारीकी प्रसन्नता निमित्त उसकी आज्ञाका प्रतिपालन करता चला जाता हूं। अथवा " आधाय " का अर्थ यों करलो, कि जो सब कर्मोंको ब्रह्ममें स्थापन कियाहुआ जानकर करता है अर्थात् ब्रह्म रूप ही जानता है । जैसा, कि भगवानने पहले भी कहा है, कि " ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्" (अ० ४ श्लो० २४) अर्थात् अर्पण, हवि, अग्नि तथा हवन करनेवाला, होम किये-हुए द्रव्य तथा होमके जितने कर्म हैं सब ब्रह्मरूप ही हैं । ऐसी बुद्धि से जो पुरुष " संगं त्यक्त्वा " कर्म फलोंको त्याग सर्व प्रकारके यज्ञादि कोंका सम्पादन करताहुआ निर्लेप रहता है वह किसी पापमें नहीं फँसता अर्थात् जब वह सुकर्मोंको भगवान्में अर्पण करदेगा अर्थात् सब कर्मोंको ब्रह्मरूप ही जानलेगा [लिप्यते न स पापेभ्यो पद्मपत्रमिवाम्भसा] सो किसी प्रकारके पापमें भी लिप्त नहीं

होता। जैसे कमलपत्र जलमें रहताहुआ भी जलसे लिप्त नहीं होता।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यदि विधिवशात उससे कोई पाप होजावे तो वह उस पापसे बांधा नहीं जाता। क्योंकि भगवान् उस पर प्रसन्न हो उसके पापोंके फल अपने तेजसे भस्म करदेते हैं। सो भगवान् आगे कहेंगे, कि " अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि० ० ० (अ० १८ श्लो०६६) हे अर्जुन तू अपने धर्मोको मुझमें अर्पण कर मेरी शरण आजा! मैं तेरे सब पापोंको नाश करदूंगा। तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी अपना सारा घर किसीको अर्पण करदेता है, तो क्या उसके घरके प्रनाले, सकरे, छिपकिलियां, चूहे, बिल्ले इत्यादि छांट कर अलग करदियेजाते हैं? कदापि नहीं! वरु सब कुत्सित पदार्थ शोभन पदार्थोंके साथ-साथ अर्पण होजाते हैं। इसी प्रकार जो प्राणी अपने कर्मरूप सारे घरको श्री हरिके प्रति अर्पण करदेगा तो उसके पाप जो भगवान्के सन्मुख जावेंगे, पतितपावन उन्हें अपने तेजसे आप ही नष्ट करदेवेंगे। इसी कारण श्यामसुन्दर अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन! जो प्राणी कर्मोका संग छोड सब मुझमें अर्पण करदेता है उसको पाप बाधा नहीं करते। क्योंकि वे पाप ब्रह्मरूप तेजके समीप आते ही इस प्रकार विलाजाते हैं जैसे सूर्यके प्रकाश होते ही अन्धकारका नाश होजाता है।

दूसरा विशेष अभिप्राय भगवान्का यह है, कि तत्त्वदर्शी, ज्ञानी और इन्द्रियजित यदि विधिवशात् प्रारब्धकी प्रेरणासे कभी किसी पाप में पडजाता है, तो वह उसमें लिप्त नहीं होता है। वह कैसे उस पाप

से बचता है उसे उदाहरण देकर भगवान् कहते हैं, कि " पद्मपत्र मिवाम्भसा " कमलका पत्र जैसे पानीमें रहताहुआ भी जलसे स्पर्शको नहीं प्राप्त होता है । सो केवल उसके पत्रोंकी चिक्कणताका कारण है अर्थात् पत्ते इतने चिकने होते हैं, कि जो कभी संयोग वशात् जलकी एक छोटीसी बूंद भी उन पर पडजावे तो वह क्षणमात्र भी उस पर नहीं ठहर सकती । इसी प्रकार तत्त्व-दर्शी ज्ञानियोंका अन्तःकरण निष्कामकर्म-योगके साधनसे इतना निर्मल और चिक्कण होजाता है, कि संयोग वशात् यदि कोई पाप-कर्मकी छोटीसी बूंद उसपर पड-जावे तो वह उसके अन्तःकरणपर ठहर नहीं सकती । अर्थात् विष-यियोंके समान वह उसमें फँसकर नाश नहीं होता । जैसे विश्वामित्र नारद, पराशरादि महर्षियोंके हृदयपर जो शकुन्तला, शीलनिधि-कन्या तथा सत्योदरीके नयन-शरके घाव अधिक नहीं ठहर सके । क्षण-मात्रमें कर्पूरकी डलीके समान बिलागये । अर्थात् उनके निर्मल अन्तः करणरूप नलनीदलपर इन पापोंकी छींटें अधिक न ठहर सकीं । इसी कारण भगवान्ने दया कर इनको शुद्ध करदिया और इनका महत्व ज्योंका त्यों बनारहा ।

एवम् प्रकार भगवान्ने इस श्लोक द्वारा अर्जुनकी शंकाका समा-धान करदिया ॥ १० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जब कर्मका बन्धन स्पर्श नहीं करता और प्राणी कर्मोंको भगवत्में अर्पण करके बन्धनरहित होजाता है तो कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं

देखी जाती। फिर कर्म करनेवाले किस तात्पर्यसे कर्म करते हैं ? मुझे समझाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन—

मू—कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

पदच्छेदः—योगिनः (ईश्वरसमर्पितेन निष्कामकर्म-योगेनयुक्ताः कर्मिणः) संगम् (फलासक्तिम्) त्यक्त्वा (विहाय) आत्मशुद्धये (चित्तशुद्धये) कायेन (देहेन) मनसा, बुद्धया [तथा] + केवलैः (कर्माभिनिवेशरहितैः ममत्वबुद्धिशून्यैः) इन्द्रियैः (चक्षुरादिभिर्बाह्यकरणैः) अपि, कर्म (विहिताचारम्) कुर्वन्ति (सम्पादयन्ति) ॥ ११ ॥

पदार्थः—(योगिनः) ईश्वरमें अर्पणबुद्धिसे निष्काम-कर्मयोगके सम्पादन करनेवाले (संगम्) कर्म-फलकी आशाको (त्यक्त्वा) छोडकर (आत्मशुद्धये) केवल अपने चित्तकी शुद्धि निमित्त (कायेन) शरीरसे (मनसा) मनसे (बुद्धया) बुद्धि से अथवा (केवलैरिन्द्रियैः) केवल इन्द्रियोंसे (अपि) भी (कर्म कुर्वन्ति) कर्म किया करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः—प्रथम श्लोकमें कर्म-बन्धनसे छूटजाना दिखलाकर श्यामसुन्दर अर्जुनकी शंकाकी निवृत्ति करतेहुए योगियोंके कर्म

+ केवलशब्दः कायादिभिरपि प्रत्येकं सम्बध्यते, सर्वे व्यापारेषु ।

करतेरहनेका कारण दिखलातेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि] कायासे, मनसे, बुद्धिसे वा केवल इंद्रियोंसे नाना प्रकारके कर्म कियेजाते हैं । जैसे तप करना, तीर्थोंमें शरीरको थकाना, पंचाग्नि तापनी, शीतकालमें रात्रिभर जलके ऊपर नंगेशिर शयनकरना, एक पांवपर खडेहोकर भगवान्से प्रार्थना करनी, मौन रहना तथा परोपकारके निमित्त + शिवि और * दधीचि के समान अपने शरीरसे मांस और हड्डी निकालदेनी इत्यादि कायिककर्म हैं । " विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन " (भर्तृहरिः) अर्थात् करुणासे भरेहुए प्राणियोंका शरीर परोपकारसे शोभायमान होता है, चन्दनसे चर्चित करनेसे नहीं । इसलिये कायासे उपार्ज्जन कियेहुए जो शुभकर्म हैं तिनको केवल कायिककर्म कहते हैं ।

(मनसा) केवल मनसे उपार्ज्जन कियेहुए कर्मोंको मानसिक कर्म कहते हैं। जैसे आस्तिक्य (ईश्वर है, मोक्ष है, परलोक है) इत्यादि विषयोंका निश्चय करके गुरु, वेद तथा महानुभावोंके सिद्धान्त-वाक्योंको एकाग्र हो श्रवणकर एकान्तस्थानमें मुहूर्त्त दो मुहूर्त्त बैठ मनन करना।

× शिविने कपोत पक्षीकी जान बचानेके लिये अपने शरीरसे मांस काटकर श्येन (बाज़ पक्षी) को दिया था।

* दधीचिने अपनी जंघाकी हड्डी निकालकर देवताओंके उपकारनिमित्त दी थी जिससे " ऐन्द्र " नाम धनुष बना और तिसके द्वारा देवासुर—संग्राममें विजयकी प्राप्ति हुई, वृत्रासुर इत्यादि असुर मारेगये ।

करुणा अर्थात् दुःखियोंको देख दयासे भरजाना। यदि अपनेसे उपकार न होसके तो परायेके द्वारा उपकार करानेका यत्न विचारना। निन्दित कर्मोंमें स्पृहा न होनी। विद्वानों, महात्माओं तथा अपने माता, पिता, आचार्य्यके सत्कार करनेकी अभिलाषा रखनी। इष्टदेव तथा इष्ट मंत्रादिकोंमें विश्वास रखकर दृढ रहना। चाहे कितनी भी आपत्तियां क्यों न आजावें पर मनको डावांडोल न होनेदेना। धर्मपर स्थिररहना। अपने ऐश्वर्य्यादिका दम्भ न करना। अपमानसे व्यग्र न होना। राग द्वेषके पल्ले न पडना। ईर्षा नहीं करनी। परायेकी वृद्धि देख प्रसन्न होना और उसकी उन्नतिमें सहायता करनेकी चेष्टा रखनी। जो कोई अपना अनिष्ट करचुकाहो पर फिर शरण आवे तो उसका अपराध क्षमाकरना। ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके ❀ विषयोंसे अलग रहना और विषयोंके छूटते रहनेका अभ्यास करते रेहना। इत्यादि **मानसिककर्म** हैं।

(बुद्ध्या) जब कोई समय ऐसा आनपडे, कि एक ही कर्मका करना और न करना दोनों श्रेय जानपडें उस समय पूर्ण विचारके साथ उपाय और अपाय दोनोंको सामने रखकर ऐसा विचारना जिसमें अपायोंके

टिप्प०— हरिश्चन्द्रने आपत्ति समय चाण्डालके भृत्य होनेपर अपने मरे पुत्र को अपनी स्त्रीकी गोदमें पडा देख उसे श्मशान घाटमें विना कर लिये फूंकने न दिया।

❀ मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥

मनके दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध तहां अशुद्ध तो वह है जिसमें विषयोंके भोगकी कामना बनी रहती है और शुद्ध वह है जो विषयोंकी कामनाओंसे वर्जित है।

फंदे न पडना पडे । एवम् प्रकार विचार इन दोनोंमें न्याय करलेना, कि यह कार्य्य इस समय कर्त्तव्य है वा अकर्त्तव्य है । दोनोंमें एकका सिद्धान्तकर उसके पूर्ण करनेकेलिये भांति-भांतिके उद्योगोंको प्रमाणोंके सहित सम्मुख कर एकको दृढ करलेना जिससे आगे धर्म्मके मार्गमें भी कुछ हानि उत्पन्न न हो और कार्य्य भी सुलभताकेसाथ पूर्ण होता जावे । इसीको कुशाग्रबुद्धि कहते हैं । इसी + बुद्धि द्वारा अनात्मा और आत्मामें भेद निकालकर अनात्माका परित्याग और आत्मतत्वका ग्रहण करनेकेलिये * कर्म, अकर्म और विकर्म का भलीभांति विचारकरना केवल बुद्धि द्वारा ही होता है । जैसे काया और मनसे परोपकारादिका सम्पादन दिखला आये हैं ऐसे ही बुद्धि द्वारा भी सूक्ष्म-विचारसे परायेका उपकार होसकता है । ये सब भी बुद्धिके कर्म कहे जासक्ते हैं ।

अब कहते हैं, कि "केवलैरिन्द्रियैरपि" केवल इन्द्रियों ही द्वारा अर्थात जो कर्म केवल पांचों कर्मेन्द्रिय और पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्पादन कियेजावें उनको केवल इन्द्रियकर्म कहते हैं ।

शंका— यहां यह शंका उत्पन्न होती है, कि इन्द्रियां बिना मन और कायाके संग हुए कुछ कर्म नहीं करसकतीं । फिर आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रने " केवलैरिन्द्रियैः " कैसे कहा ?

*कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीनोंका भेद जाननेकेलिये (देखो अ० ४ श्लो० १७)

+ बुद्धि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारकी होती है जैसा भगवान् आगे १८ वें अ० में ३० से ३२ श्लोकतक वर्णन करेंगे । सो इन तीनोंप्रकारकी बुद्धियोंमें जो सात्विक-बुद्धि है उसके अनुसार नाना प्रकारके शुभ आचरण होते हैं ।

समाधान— इसका समाधान यह है, कि 'केवल'से यह प्रयोजन रखा है, कि इन्द्रियां जो अपने-अपने विषयकी ओर जाकर कर्म करें उनसे अभ्यास, अभिनिवेश और ममत्व न हो। जैसे कोई एक महानुभाव इन्द्रियजित पुरुष किसी स्थानमें बैठा है तहां एक सुन्दर स्त्री उसके नेत्रोंके सामने आपडती है वह महात्मा उसे देखता है पर अपने मनका योग उसके साथ नहीं करता जिस कारण वह कामके बाणसे बच जाता है। इसीको केवल इन्द्रियकर्म कहते हैं। यदि इसके साथ मनका योग भी होजावे तो वह मानसकर्म होजावेगा। और मनोज भी अपना वेग दिखलावेगा। यदि मनोजने भी अपना वेग दिखलाया तो झट वह अपनी कायाको उस स्त्रीकी कायाके साथ मिलादेगा तो यहीं कायाने भी इन्द्रियोंका योग किया। तब यह कर्म केवल इन्द्रिय-कर्म नहीं हुआ वरु मन काया और इन्द्रिय तीनोंके द्वारा सम्पादन कियागया। इसलिये जबतक केवल आंखसे देखकर अभ्यास, अभिनिवेश और ममत्वको छोड रखा है तबही तक वह केवल इन्द्रियोंका कर्म कहा जावेगा। इसी प्रकार सम्पूर्ण विराट्को देखता हुआ प्राणी केवल इन्द्रियोंसे कर्म करसकता है। यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकारके कर्मको केवल इन्द्रियकर्म जानना।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये**] इसी प्रकार योगी केवल कायासे, मनसे, बुद्धिसे वा इन्द्रियोंसे व्यवहारोंमें रहकर भी उदासीनताके साथ संगरहित होकर अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करनेके लिये निष्काम-कर्मोंका सम्पादन करते रहते हैं पर मन-बुद्धिसे विशेष सम्बन्ध नहीं रखते।

यदि अनायास केवल इन्द्रियोंसे कार्य्य करते हुए काया, मन और बुद्धिका संयोग हो भी जाता है तो उस कर्मके फलको त्याग ईश्वरमें समर्पण करदेते हैं।

केवल काया, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे कहनेका यह मुख्य अभिप्राय है, कि काया जो '×अन्नमयकोष' मन जो 'मनोमयकोष' बुद्धि जो विज्ञानमय कोष और इन्द्रिय जो 'प्राणमयकोष' इनसे कर्मों का सम्बन्ध न रखकर अर्थात् इन अपने चारों कोषोंसे सिमटकर योगीजन 'आनन्दमयकोष में' प्रवेश करजाते हैं, जहांसे आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, तथा भगवत्स्वरूपका आरंभ होता है। एवम् प्रकार योगीजन आनन्दमयकोष होते हुए ब्रह्ममें लय होजाते हैं। इसलिये कर्मयोगी अपने कर्मोंके फलोंकी आसक्ति छोड उन फलोंको भगवत्में अर्पण करते हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते रहते हैं॥ ११॥

× एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। मानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमांल्लोकान् कामान्नी कामएतरूप्यनुसंचरन् एतत्सामगायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु तैत्तिरी० भृगुव० अ० ४८॥

अर्थ— आत्मज्ञानी क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंको उल्लंघन करताहुआ आनन्दपूर्वक हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु सामवेदका गान करताहुआ ब्रह्ममें लय होजाता है।

अब श्री नन्दनन्दन युक्त और अयुक्त अर्थात् सकाम और निष्कामकर्म करनेवालोंका विलग-विलग परिणाम बताते हैं—

मू०—युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

पदच्छेदः— युक्तः (परमेश्वरैकनिष्ठः ईश्वराय कर्माणि करोमि । न फलायेत्येवं समाहितः) **कर्मफलम्** (जीवकृतशुभाशुभस्य शास्त्रविहितस्य निषिद्धस्य वा सुखदुःखादि रूपं परिणामम्) त्यक्त्वा (परित्यज्य) **नैष्ठिकीम्** (सत्वशुद्ध्यादि कर्मप्राप्तब्रह्मनिष्ठाफलभूतामात्यंतिकीम्) **शान्तिम्** (चित्तोपशमम् । विषयेभ्य इंद्रियोपशमम् । तृष्णाक्षयम् । कैवल्यम्) **आप्नोति** (प्राप्नोति) [किन्तु] **अयुक्तः** (असमाहितः । ईश्वराद्बहिर्मुखो वा) **कामकारेण** (कामतः प्रेरिततया प्रवृत्त्या वा) **फले सक्तः निबध्यते** (नितरां बन्धनं प्राप्नोति) ॥ १२ ॥

पदार्थः— (**युक्तः**) जो प्राणी परमेश्वरकी निष्ठामें सदा लीन है वह (**कर्मफलम्**) कर्म-फलको (**त्यक्त्वा**) त्याग करके (**नैष्ठिकीम्**) अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करताहुआ भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति करानेवाली निष्ठासे भरीहुई (**शान्तिम्**) शान्ति (**आप्नोति**) प्राप्त करता है पर जो प्राणी इसके प्रतिकूल (**अयुक्तः**) असमाहित अर्थात् चंचल-चित्त होकर सकामकर्म करताहुआ भगवतसे वहिर्मुख है वह (**कामकारेण**) कामकी प्रेरणासे (**फले-**

सक्तः) कर्मके फलमें आसक्त होकर (निबध्यते) सदाकेलिये कर्मफलसे बांधाजाता है। अर्थात् अधमगतिको प्राप्त होता है॥१२॥

भावार्थः— श्यामसुन्दर पूर्व श्लोककी वार्त्ता दृढ करनेके लिये युक्त और अयुक्त दोनों प्रकारके कर्म करनेवालोंका परिणाम दिखलातेहुए कहते हैं, कि [**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांति आप्नोति नैष्ठिकीम्**] जो प्राणी युक्त है अर्थात् ईश्वरमें समाहित-चित्त रहकर अपनी निष्ठासे कदापि नहीं टलता। चाहे उसकी गर्दनपर खड्गकी धार क्योंन पडनेवाली हो, उसका सारा सर्वस्व क्यों न लुट रहा हो, सारा संसार ही उसका शत्रु क्योंन होगया हो, प्रह्लादके सदृश जलतीहुई आगमें क्यों न फेंकदिया जावे अथाह समुद्रमें उसका शरीर बांधकर क्यो न फेंकदिया जावे पर किसी भी अवस्थामें अपनी ब्रह्मनिष्ठाका परित्याग नहीं करता वही पुरुष युक्त अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ कहाजाता है। एवम् प्रकार जिस प्राणीने ब्रह्मनिष्ठ हो कर्म-फल त्यागदिया है अर्थात् कर्म-फल केवल ईश्वरमें समर्पण कर ऐसा नहीं समझता, कि इन कर्मोंको मैं अपने लिये करता हूं वरु ऐसा समझता है, कि जो कुछ मेरे शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा कर्म बनआते हैं उनको मैं केवल भगवत् प्राप्ति-निमित्त करता हूं। वही प्राणी नैष्ठिकी शांतिको जिसे मोक्षपद कहते हैं प्राप्त करता है अर्थात् सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर भगवत्-स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है।

यहां जो भगवान्ने "नैष्ठिकी-शान्ति" कही है तहां नैष्ठिकी कहनेका गुप्त मर्म यह है, कि साकार वा निराकार, वैष्णव वा शैव,

बैरागी वा सन्न्यासी जिसकी जैसी निष्ठा होगी तदाकार ही शांति प्राप्त करेगा । इसलिये दृढ निष्ठाकी आवश्यकता है । पर जो प्राणी असमाहित-चित्त होनेके कारण आत्मामें निष्ठा रखनेका पराक्रम नहीं रखता वह बलहीन है ऐसे बलहीनके लिये आत्मज्ञानकी प्राप्ति दुस्तर है ।

साकार और निराकारके भेदसे इस नैष्ठिकी शांतिके दो स्वरूप हैं, अर्थात् जो निराकार उपासना वाले हैं वे तो निराकार ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और जो साकार वाले हैं वे साकार ✽ ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।

आनन्दमें, सुखमें, शांतिमें, अवस्थामें, नित्यतामें विनाशरहित अमृतपद पानेमें, दोनोंको परमधाम मिलनेमें, दोनोंके सर्वेश्वर होनेमें, सर्वव्यापक होनेमें तथा निर्विकार, निर्मल, सच्चिदानन्द, ब्रह्म होनेमें तनक भी भेद नहीं है । इसलिये किसी निष्ठाका भी प्राणी क्यों न हो आनन्दमें समान ही है । इसलिये जैसी जिसकी निष्ठा होगी उसी प्रकारकी उसकी नैष्ठिकी शांति होगी । इस कारण शांतिपदके साथ नैष्ठिकी योजना करदी है ।

शंका—नैष्ठिकी शांतिके जो दो भेद साकार और निराकार कथन किये गये तहां जिज्ञासुओंको अवश्य यह भ्रम होगा, कि इन दोनोंमें किसी एककी

✽ " द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चेति । " अर्थात् उस ब्रह्मके दो स्वरूप हैं एक मूर्तिमान् और दूसरा अमूर्तिमान् ।

तो श्रेष्ठता होनी चाहिये ? क्योंकि दो वस्तु होनेसे चित्तकी चंचलताके कारण किसी भी एक निष्ठाकी दृढता नहीं होगी । क्योंकि साकार-वाले कहते हैं, कि मैं श्री गोलोकबिहारीके साथ नित्य बिहार करने-वाला तथा नित्य आनन्दका भोगनेवाला हूं । मेरा गोलोक-बिहारी बडेसे वडा बिराट्-स्वरूप होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें और छोटेसे-छोटा अणुमात्र होकर पिपीलिके हृदयमें भी निवास करता है । अर्थात् (अणोरणीयान्) और (महतो महीयान) है । पर निराकार तो शून्य है, शून्यसे क्या लाभ हो सता है ? इसके विरुद्ध निराकार-वाले कहते हैं, कि जहांतक नाम रूप हैं सबोंका नाश है, केवल निराकारा नाश नहीं होसकता । इसलिये निराकार ब्रह्म ही नित्य है और सब अनित्य हैं । साकारका बिनाश है । इसलिये इस परस्प-रके विरोध श्रवण करनेसे नैष्ठिकी शान्ती प्राप्ति दुर्लभ दीख-पडती है ।

समाधान— परस्परके झगडनेवाले यथार्थ तत्त्वसे बहुत ही विलग हैं । जो यों कहते हैं, कि निराकार शून्य है और जो यों कहते हैं, कि साकारका नाश है वे दोनों भ्रममें पडेहुए हैं । यदि भ्रमका आवरण ये दोनों अपने हृदयसे मिटादेवें तो ये अवश्य जानजा-वेंगे, कि दोनों एकही स्थानमें स्थित हैं केवल कहने मात्रका अन्तर है । क्योंकि जो ही साकार है वही निराकार है । इसका पूर्ण सिद्धान्त आगे श्यामसुन्दर स्वयम् उपासना कहते समय अर्जुनसे कथन करेंगे ।

अब जगद्-गुरु, जगत हितकारी गोलोकबिहारी युक्त पुरुषोंका वृत्तान्त कहकर आधे श्लोकमें अयुक्त अर्थात् निष्ठाहीन चंचल

चित्तवालेकी दशा वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अयुक्तः काम-कारेण फले सक्तो निबध्यते**] जो प्राणी अयुक्त है अर्थात् असमाहित-चित्त होनेके कारण साकार निराकार किसीमें भी निष्ठा नहीं रखता, कर्मयोग वा सन्यासयोग किसीमें विश्वास नहीं रखता, वेद-शास्त्र वा महानुभावोंके वाक्यों तथा गुरुवचनोंमें भी विश्वास नहीं रखता, आज इस धर्ममें कल उस धर्ममें मारा फिरता है, तिस पर यों अहंकार करता है, कि मैं विद्वान् हूं ऐसा दम्भ-युक्त प्राणी " कामकारेण " कामकी प्रेरणासे अहर्निश विषय—भोगमें डूबाहुआ है तथा थोडा भी कहीं सुकर्म बनआया तो झट उसके बदले सैकडों मनोकामनाओंकी पूर्ति करलेनेकी अभिलाषा रखता है वह फलमें आसक्त होकर सदाकेलिये कर्मोंसे बांधा जाता है । न उसकी कामना छूटती है और न वह कर्मबन्धनसे छूटता है । यहां सदाकेलिये कहनेका तात्पर्य यह है, कि जब तक कामनाओंकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होरहा है तब तक छुटकारा नहीं है । क्योंकि शुभा-शुभ कर्मोंके भोगसे कभी कुलालचक्रके समान इसी संसारकी भिन्न योनि-योंमें फिरता रहता है अथवा जो किसी शुभ कर्म—वश स्वर्ग चला भी जाता है तो फिर लौटकर इसी संसारके गर्तमें गिरता है । एवम् प्रकार कूपघटिकायंत्रके समान नीचे ऊपर करता रहता है । श्रुतियां भी इसी अर्थका प्रतिपादन करती हैं—

श्रु०— "ॐ अविद्यामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्य-

टिप्पणी०— साकार निराकारका वर्णन अ० श्लो० में देखो ।

मानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथा-न्धाः ॥ ८ ॥ अविद्यायां बहुधा वर्त्तमानाः वयं कृतार्था इत्यभिम-न्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलो-काश्च्यवन्ते " ॥ ९ ॥ (मु० १ खं० २ श्रु० ८, ९,)

अर्थ— जो अविद्याके भीतर वर्त्तमान रहकर अपनेको बडा विवेकी पण्डित माननेवाले हैं वे मूढ " जंघन्यमानाः " जरा और रोगसे बार-बार पीडित होकर इधर-उधर ऐसे भ्रमते रहते हैं जैसे अंधेके पीछे चलनेवाला अन्धा गड्डे इत्यादिमें गिरपडता है । ऐसे नाना प्रकारसे अविद्यामें वर्त्तमान रहनेवाले जो बालकोंके समान असमाहितचित्त हैं और अपनेको ऐसा मानते हैं, कि हमलोग कृतकृत्य हैं वे यथार्थ तत्व को नहीं जानते हैं। इसलिये वे कर्म फलसे दबेहुए दुःखसे आतुर होकर कर्म-फल क्षय होजानेके पश्चात् स्वर्गसे नीचे गिरजाते हैं । इनही श्रु-तियोंके अभिप्रायोंको भगवान् इस श्लोकमें अर्जुनके प्रति कर्मयोगका फल दिखलाते हुए यह उपदेश करचुके हैं, कि जो प्राणी तेरे समान कषाय (परिपक्व) न होनेके कारण सन्न्यासका अधिकारी नहीं है उसके लिये इस कर्मयोगहीकी श्रेष्ठता है ।

उक्त प्रकार भगवानने युक्त और अयुक्त अर्थात् सकाम और निष्कामकर्म करने वालोंके परिणाम विलग-विलग दिखलादिये ।

अब भगवान् उनलोगोंकेलिये जो कर्मयोगकी सिद्धि प्राप्त कर शुद्ध अन्तःकरणवाले होगये हैं कर्मसन्न्यासकी श्रेष्ठता अगले ८ श्लोकों में कहते हुए इस अध्यायकी समाप्ति करते हैं ॥ १२ ॥

मू०— सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ १३ ॥

पदच्छेदः— वशी (जितेन्द्रियः) देही (देहाद्व्यतिरिक्तात्मदर्शी) सर्वकर्माणि (नित्यं, नैमित्तिकं, काम्यं प्रतिषिद्धं चेति तानि) मनसा (कर्मादावकर्मदर्शनेन विवेकबुद्ध्या) सन्न्यस्य (परित्यज्य) न (नहि) कुर्वन् (क्रियासु प्रवर्त्तयन्) न (नैव) कारयन् (कर्मण्यभिप्रेरयन्) [एवं] नवद्वारे (द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके वागेकेति शिरसि सप्त, द्वे पायूपस्थाख्ये अध, इति नवद्वारविशिष्टे) पुरे (मनुष्यशरीराख्ये नगरे) सुखम् (दुःखहेतुसर्वव्यापारोपरमादायासरहितम्) आस्ते (तिष्ठति) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (वशी) काया, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको अपने वशमें रखा है जिसने, ऐसा जो जितेन्द्रिय (देही) इस देहका अधिपति यतचित्तात्मा पुरुष, वह (सर्वाणि कर्माणि) नित्यनैमित्तिकादि सबकर्मों को (मनसा) मनसे (परित्यज्य) त्यागकर (न कुर्वन) न कुछ करता हुआ (न कारयन्) न किसीसे कुछ कराता हुआ (एव) निश्चयकरके (नवद्वारे) नवद्वारके बनेहुए (पुरे) इस मनुष्य शरीर रूप नगरमें (सुखम्) आयासरहित हो आनन्दपूर्वक (आस्ते) निवास करता है ॥ १३ ॥

भावार्थः— अब श्री जनार्दन भगवान् उन लोगोंके लिये जो अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर सन्न्यासके अधिकारी होगये हैं,

सन्न्यासका स्वरूप दिखातेहुए कहते हैं, कि [**सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी**] देही जिसने कर्मयोग साधन द्वारा कर्मोंके फल त्याग करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर अपनी देह, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको वशीभूत करलिया है उसे + वशी कहते हैं।

जिसके विषय भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि "**वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**" (अ० २ श्लो० ६१) "**आत्म-वश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति**" (अध्या० २ श्लो० ६४) अर्थात् जिसकी इन्द्रियां अपने वशमें हैं उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता कही जाती है। तथा जिसने अपने मनको अपना वशवर्त्ती बना स्वाधीनता प्राप्त कर प्रसाद प्राप्त किया है अर्थात् नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त कर कृत-कृत्य होगया है उसे कहिये "वशी"। ऐसा निर्मलात्मा जिसने अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर सर्व प्रकारके *कर्मोंको त्याग रखा है अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिषिद्ध इन चारों प्रकारोंके कर्मोंसे अलग होगया है वही परम सुखमें निवास करता है।

शंका— जो आलसी हैं अहर्निश संसृत-झगडोंमें पडेहुए पुत्र कलत्र तथा नाना प्रकारके विषय भोगमें व्यग्र रहते हैं वे भी तो

+ यह वशी शब्द अगले अर्द्धश्लोक देही पदका विशेषण है।

* नित्यकर्म— सन्ध्यादि।
नैमित्तिक— पितरोंका श्राद्ध इत्यादि।
काम्य— पुत्र पौत्रकी कामनासे पुत्रेष्टि यज्ञादि।
प्रतिषिद्ध— जीवोंकी हिंसा तथा मिथ्याभाषण, व्यभिचार, चौरकर्म इत्यादि।

सन्ध्या, हवन, तर्पण, श्राद्धादि सब कर्मोंको छोडे रहते हैं तो क्या वशी भी इन्हीं मूर्खोंके समान कर्मोंको छोडदेता है । यदि ऐसा हो तो वशी (परमहंस) और अवशी (विषयी) इन दोनोंमें क्या अन्तर रहेगा ?

समाधान— यहां त्यागका अर्थ यह है, कि वशीने कर्मोंको नहीं छोडा है पर कर्म ही आपसे आप उससे छूटगये हैं । कारण यह है, कि कर्मोंका सम्पादन करते-करते जो कर्मोंका अन्तिम फल नैष्ठिकीशांति है अर्थात् जीवन्मुक्ति है उसे वह प्राप्त करचुका है । इसी कारण लौट कर उसे पीछे देखनेकी आवश्यकता ही नहीं रही । श्रुतिका भी वचन है, कि– "तावद्रथेन गन्तव्यम् यावद्रथपथि स्थितः । स्थाता रथपतिस्थानम् रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ (अमृ-नादोपनिषद् मं० ३) अर्थात् जबतक रथ अपने स्थानपर पहुंचता है तबही तक रथकी आवश्यक्ता है और जब अपने स्थानपर चलनेवाला पहुंचगया तब फिर उस रथको छोडकर अपने घरमें चला-जाता है। इसीलिये प्राणीको कर्मरूप रथकी आवश्यकता तभी तक है जब तक वह ब्रह्मानन्दके भवनमें नहीं पहुंचता । ज्ञानी कर्मोंको नहीं छोडता वरु कर्म ही उसे छोड देते हैं । इसलिये भगवान्ने ऐसा कहा, कि सर्व कर्मोंको (**सन्न्यस्य**) छोडकर सुखी होजाता है । यदि कहो, कि वाह्य इन्द्रियोंसे तो उसे त्याग प्राप्त हुआ पर मनसे न हुआ हो तो "**इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते**" (देखो अ० ३ श्लो० ६) भगवान्के इस वचनके अनुसार वह प्राणी विमूढात्मा और मिथ्याचारी है । इसी कारण यहां इस श्लोकमें भग-

वान् कहते हैं, कि (मनसा) मनसे अर्थात् अन्तःकरणसे जिसने कर्मोंका परित्याग किया है वही यथार्थ त्यागी है । इसलिये यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि जो एवम् प्रकार मनसे सब कुछ त्यागकर इन्द्रियोंको वशमें किये हुआ है, हे अर्जुन ! वह कहां किस प्रकार सुख पूर्वक निवास करता है सो सुन! [**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्**] न कुछ करता हुआ न कुछ कराता हुआ अर्थात् कायिक, मानसिक सर्वप्रकारके कर्मोंका परित्याग करता हुआ निर्द्वन्द्व और नित्य सत्त्वस्थ होकर " नवद्वारे पुरे " इस नव द्वार वाले नगरमें अर्थात् इस *नव छिद्रवाली देहमें सुखपूर्वक निवास करता है । जैसे कोई यात्री किसी दूसरेके घरमें रात्रिभर आनन्द पूर्वक निवास करता हुआ यह जानता है, कि उसका यह घर नहीं है, चाहे इस घरमें दस द्वार हों चाहे बीस, चाहे इसका कोई कोना टूटा-फूटा हो चाहे सम्पूर्ण घर अत्यन्त दृढ पत्थरका क्यों न हो, इसकी हानि वा लाभसे कुछ हानि वा लाभ नहीं होता। इसी प्रकार सन्न्यासी भी इस देहका ममत्त्व छोड इसमें सुखपूर्वक निवास करता है और यों जानता है, कि मैं देह नहीं, इस देह से मुझे कोई सम्बन्ध नहीं, चाहे स्थूल रहे चाहे खिन्न रहे, चाहे गौर वर्ण हो वा श्याम हो, चाहे वक्ता हो, चाहे गूंगा हो, चाहे सुरूप

*नव छिद्र = नेत्रोंके २, कानके २, नासिकाके २, मुखका १, लिंगका, १ गुदाका १ ।

हो, वा कुरूप हो । इस प्रकार की इस नवद्वारवाली देहमें स्थिर होकर बैठा रहता है ।

" सुखमास्ते " कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि श्रु०— " न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता । " (अमृतबिन्दूपनिषत् खं ६ मं० १०)

अर्थ— ऐसी दशामें प्राणी को न निरोध है, न उत्पत्ति है, न वह बन्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है, न मुक्त है। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि उसे किसीभी दशाका बन्धन नहीं है। इसी अवस्थाको परमार्थता कहते हैं और इसी दशा वाला इस नवद्वारवाले शरीर रूप घरमें सुखसे निवास करता है ।

शंका— इस शरीर रूप घरमें तो छोटे-छोटे बच्चे भी अपनी माकी गोदमें अचिन्त्य होकर सुख-पूर्वक सो जाते हैं । तो उक्त प्रकारके वशी देही (परमहंस) में और छोटे बच्चोंमें क्या अन्तर है ?

समाधान— बाहरसे देखनेमें तो दोनोंकी एक ही दशा है पर अन्तरसे भेद है । परमहंसको तो सारा ब्रह्माण्ड करतलगत है और सर्वज्ञ होनेके कारण सबकुछ पहचानता है । पर बच्चा अपनी माताको भी नहीं पहचानता । एक ज्ञानसहित है और एक ज्ञानरहित है । यह यथार्थमें मुक्त है वह यथार्थमें बद्ध है । बच्चा तो ऋषिऋण, देव-ऋण और पितृऋण तीनों ऋणोंका ऋणी है, पर परमहंस तो इन तीनों ऋणोंको देकर ऋणरहित होगया है । बच्चेको हृदयकी कामनाओंका

प्रादुर्भाव होनेवाला है जहां × लोकैषणा, बित्तैषणा और पुत्रैषणाकी उत्पत्ति होनेवाली है, पर परमहंसकी कामनायें इन तीनों एषणाओंके साथ बिध्वंस होगयी हैं। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि बच्चा संसारमें प्रवेश कररहा है और परमहंस बिलग होरहा है। इसलिये भगवान् अर्जुनको सन्न्यासीका संक्षिप्त लक्षण कहकर दिखलाते हैं, कि हे अर्जुन! तू भी कर्मयोगका साधन करताहुआ इन ऋणोंको देकर एषणाओंसे रहित हो इस असार संसारसे निकल भागनेका यत्न कर! ऐसा मत कर, कि एका-एक इस श्लोकहीको श्रवणकर सन्न्यासी बन बैठ। सन्न्यासी बननेकी जो रीतियां हैं उनका साधनकर पीछे उत्तम सन्न्यासी होजा। क्योंकि तेरे ही पूर्वज सर्वप्रकारकी राजनीतियोंका पालन कर कर्मयोगका साधन करतेहुए अन्तमें सब त्याग सन्न्यासी हो कैवल्य परमपद प्राप्त करगये हैं। तू भी ऐसा ही कर! ॥ १३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! "**नैव कुर्वन् न कारयन्**" जो तुमने कहा सो मैंने तो ऐसा सुना है, कि ईश्वर ही सबकुछ करवाता है यह जीव उसके अधीन है। कर्मकरने और न करनेमें स्वतंत्र नहीं है। फिर स्वयं यह प्राणी कर्मोंका त्याग कैसे करसकता है? यह तो ईश्वरकी प्रेरणासे स्वयं भी कर्म करता है और दूसरोंसे भी कर्म करवाता है।

× लोकैषणा = स्वर्गादि लोकोंकी इच्छा। वित्तैषणा = धनसम्पत्तिकी इच्छा। पुत्रै-

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन—

मू०— न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— प्रभुः (परमात्मा । महेश्वरः) लोकस्य (जीवलोकस्य प्राणिसमूहस्य वा) कर्तृत्वम् (कर्तृधर्म्मम्) न (नैव) सृजति (उत्पादयति) कर्माणि (इन्द्रियाणां बचनादानश्रवणदर्शनादिनिष्ठकर्माणि) न (नैव) कर्मफलसंयोगम् (शुभा-शुभकर्मफल सम्बन्धम्) [अपि] न [सृजति] तु (किन्तु) स्वभावः (अविद्यालक्षणा प्रकृतिः । अनाद्यविद्याकामवशात् प्राचीनसंस्कारः) प्रवर्त्तते (वर्त मानोऽस्ति) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (प्रभुः) वह परमात्मा (लोकस्य) इस जीवलोकके अथवा इस देहके (कर्तृत्वम्) कर्म करनेका अधिकार (न) नहीं (सृजति) बनाता है (न कर्माणि) न कर्मोंको सिरजता है और (न कर्मफलसंयोगम्) कर्मफलके संयोगको अर्थात् शुभाशुभकर्मोंके फलोंके सम्बन्धको भी नहीं सिरजता है। किन्तु केवल (स्वभावः) अविद्याकरके जीवोंकी जो प्रकृति अनादिकालसे बनती चली आती है वही (प्रवर्तते) सम्पूर्ण जीव लोकमें वर्तमान है अन्य कुछ नहीं है॥१४॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि यह जीव तो ईश्वरकी प्रेरणासे कर्म करता है कर्म करनेमें स्वतंत्र नहीं है तो यह स्वयं कैसे कर्मको त्यागकर इस देहमें चुपचाप बैठसक्ता है । इसका

उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः**] वह जो ईश्वर महाप्रभु है सो न किसी जीवलोकके कर्तृत्वको सिरजता है, न कर्म्मोंको सिरजता है वह तो सबसे न्यारा है अर्थात् ऐसा नहीं करता, कि बलात्कार इस जीवसे कुछ कराते रहनेका उपाय करतारहे । यदि ऐसा करता तो उस महा प्रभुको अपना स्वामी कौन बनाता ? क्योंकि देखाजाता है, कि एक बच्चा जिसे पाप पुण्यका कुछ भी बोध नहीं है, न संसारका बोध है वह भी नाना प्रकारके दुःखोंको झेलताहुआ अत्यन्त दुःख पाता है, चीखता है और चिल्लाता है। अपनी देहकी एक फोडियां चीरेजानेके समय बडे ऊंचे स्वरसे रुदनकरना आरंभ करता है। जिसे देख जब हम पामरोंको दया आती है तब क्या उस ईश्वरको दया नहीं आती होगी? क्या वह दयावान् नहीं है ? यदि दयावान् है तो उसने एक इतने छोटे बच्चेपर ऐसी कठोरता क्यों की ? ऐसे उसके कर्म और तिसके ऐसे कठिन भोग क्यों बनाये ? यह दोष तो ईश्वरको लगना चाहिये सो उसे नहीं लगता इससे सिद्ध होता है, कि यदि ईश्वर इनके कर्तृत्वका तथा तिन कर्मोंका भोगानेवाला होता तो सबको सदा आनन्दहीमें रखता। इससे सिद्ध होता है, कि यथार्थमें वह कर्त्ता, कर्म और क्रियासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। लोकोंके शुभा-शुभ कर्मोंको भी नहीं रचता है। अथवा यों अर्थ करलो, कि रथ, पर्य्यंक, मंदिर, अटारी इत्यादि जो कर्ताके कर्म हैं उनको भी नहीं रचता है वह तो सबसे न्यारा है। इसी प्रकार [**न कर्म-फलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते**] शुभा-शुभ कर्मोंके फलके संयोगको भी वह महा प्रभु नहीं रचता। अर्थात् बलात्कार गर्दन मरोडकर

किसी प्राणीको स्वर्ग वा नरकमें नहीं फेंकदेता है । यदि कहो, कि कर्मोंके फन्देमें पडकर संसारीजीव इतना दुःख सुख क्यों भोगते हैं ? तो उत्तर इसका यह है, कि " स्वभावस्तु प्रवर्त्तते " स्वभाव ही वर्तमान है । अर्थात् अनादि कालसे प्रकृति जो माया तिसके वशहोकर यह जीव कर्मोंको आप ही करता और भोगता चलाआता है । ईश्वर तो केवल साक्षीरूप होकर देखतारहता है । जीवसे कुछ बोलता चालता नहीं । तहां श्रुतिका प्रमाण है, कि " द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ " (श्वेताश्वर उ० अ० ४ श्रुति ६)

अर्थ— जीव और ईश्वर ये दोनों सुन्दर पंखवाले पक्षी परस्पर सखाके समान मिलेहुए इस शरीररूप वृक्षपर बैठेहुए हैं (तयोरन्यः) इन दोनोंमेंसे एक जो जीव है वह तो इस वृक्षके फल, दुःख और सुखका स्वादलेता है और वह दूसरा जो शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा है सो केवल साक्षीमात्र देखता रहता है। इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि परमात्मा कुछ भी नहीं करता। यह जीव ही मायासे बद्ध होकर स्वभावसे ही सबकुछ करता-कराता भोगता-भोगाता रहता है ।

शंका— उसने कर्तृत्व, कर्म, फल और भोग नहीं रचे तो कर्मफलोंके भोगनेके लिये स्वर्ग और नरक किसने रचदिये ? यदि उस महापुरुषने ऐसा किया तो स्वर्ग नरककी रचना व्यर्थ और बच्चोंके खेलके समान जानपडती है ऐसा क्यों ?

समाधान— उस प्रभुकी आज्ञासे मायाने कर्म करनेके जो ये (शस्त्र) इंद्रियां और अन्तःकरण तथा उनके फल भोगनेके स्थान स्वर्ग और नरककी रचना तो अवश्य की है पर वह महेश्वर बलात्कार किसीसे कुछ नहीं कराता केवल प्रकृति द्वारा अनादि-कालसे जो जीवोंमें स्वभाव और गुणका प्रवेश हुआ वही स्वभाव और गुण देव, दनुज, पशु, पक्षी आदि सबोंमें कर्मोंका कारण समझा जाता है। वही स्वभाव है जो उस महा प्रभुके तेजसे प्रकाश पाता है। जैसे सूर्यके उदय होते ही कमल खिलजाता है और कुमुदनी मुंदजाती है। दोनों बनस्पति हैं, दोनों जल ही में उत्पन्न होते हैं, आकारसे भी दोनों लगभग एक ही समान हैं। पर सूर्य उदय होते एकमें स्वभाव खिलजानेका है और एकमें मुंदजानेका है। इस खिलने और मूंदनेसे सूर्यके प्रकाशको किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं। क्योंकि सूर्यको इसका कुछ हर्ष विषाद नहीं। इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिमें उस महाप्रभुने अपनी माया द्वारा स्वभाव डालदिया है वही स्वभाव वर्त्तमान रहता है। इसी स्वभावके अन्तर्गत करना, भोगना अर्थात् कर्ता, क्रिया, कर्म इत्यादिके बखेडे लगेहुए हैं। स्वभाव शब्दका अर्थ है (स्वस्य भावः स्वभावोऽविद्यालक्षणा प्रकृतिर्माया) अर्थात् स्व शब्द यहां आत्मीयवाची है इसलिये आत्मीय जो भाव स्वभाव प्रकृति वा माया सो ही वर्त्तमान है। इसलिये यह तो अवश्य सिद्धान्त कियाहुआ है, कि वह प्रभु स्वभाव और गुण सबोंमें डालकर स्वयं सूर्यके समान प्रकाश करता हुआ स्वभावको ही नियममें रखता है। तहां श्रुति भी इसी बार्ताको सिद्ध करती है—

श्रु०— " सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वदनड्वान् । एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ "

(श्वेताश्वतर उप० अध्या० ५ श्रुति ४)

अर्थ— जैसे अनड्वान (सूर्य्य) अपनी ज्योतिसे सब दिशाओंको तथा ऊपर, नीचे और अपने दायें, बायें सब वस्तुओंपर प्रकाश करता हुआ शोभायमान होता है इसी प्रकार सबोंसे स्तुति कियेजाने योग्य वह ब्रह्मदेव अपनी ज्योतिसे स्वभावोंको नियमपूर्वक प्रकाश करता है । अर्थात् सर्व प्रकारके स्वभावोंमें अपनी ज्ञानशक्तिसे प्रकाश करता हुआ अधिष्ठित है पर किसीसे आप लिप्त नहीं होता । न आप किसीसे कुछ कराता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि व्याघ्र, गौ, मनुष्य पिशाच सबों में भिन्न-भिन्न स्वभाव डालकर चुप बैठरहा है। जैसे कुम्भकार भिन्न-भिन्न पात्रोंको बनाकर चुप बैठ रहता है, घर-घरमें यह नहीं कहनेजाता, कि अमुक पात्रमें अमुक कार्य्य साधन करो । क्योंकि पात्रोंका स्वरूप देखकर ही मनुष्य दीवटमें बत्ती बालते हैं और खपडेसे घरे छाते हैं। बत्ती बालनी और घर छाना कुम्भकारसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता तीसरा ही प्राणी उन पात्रोंकी आकृति अनुसार कार्य्य करलेता है । इसी प्रकार संसारकी भिन्न-भिन्न वस्तु आग और पानीसे यह जीव काम लेता है । यद्यपि आगमें उष्णता और जलमें शीतलताके स्वभावके नियमोंका प्रतिपादन उस ब्रह्म ही से हुआ है । पर इनके कर्तृत्व से उस महाप्रभुको कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि आगमें भस्म करदेनेका

स्वभाव और बुद्धिमें अग्निसे बचनेका स्वभाव देदिया है। जो प्राणी ठीक-ठीक स्वभावानुसार सर्व प्रकारकी वस्तुओंसे कार्य्य लेता है, नियमको भंग नहीं करता उसे किसी प्रकारका कर्म बाधा नहीं करता। पर जो प्राणी बलात्कार स्वभावके विरुद्ध कर्म करता है वह उस कर्मके दुःखसे बांधाजाता है। क्योंकि स्वयं प्रकृति-जन्य कर्म न पुण्य है न पाप है। पर बुद्धिमें जो उचित अनुचितके स्वभाव दियेहुए हैं उन्हींसे विधि का कर्त्तव्य और निषेध का त्याग होता है। फिर जो प्राणी जान-बूझ कर आगमें कूदपड़ेगा वह क्यों न भस्म होजावेगा? क्योंकि उसने स्वभावसे विरुद्ध कर्त्तव्यका साधन किया।

प्रभु शब्दका अर्थ टीकाकारोंने आत्मा भी किया है। तहां ऐसा अर्थ होता है, कि आत्मा अपने तेजसे सूर्य्यके सदृश प्रकाश तो सबोंमें कियेहुआ है पर उनके स्वभावके अनुसार किसी कर्तृत्वकर्म तथा कर्म-फलके संयोगमें लिप्त नहीं होता सबसे निर्लेप रहता है। इसीके विषय भगवान् अर्जुनसे पहले भी कहआये हैं, कि **“ न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ”** (अ० ४ श्लो० १४)

शंका— जैसा जिसका स्वभाव नियत कियाहुआ है उसके विरुद्ध वह कैसे करेगा ?

समाधान— प्रारब्धकी प्रेरणासे अथवा अन्य किसी विशेष कारणसे बुद्धिमें कामनाकी उत्पत्ति होती है। जब वह कामना पूर्ण नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधके उत्पन्न होनेसे मोह। मोहसे स्मृतियोंमें भ्रम अथवा अपनी स्मृतिकी भूल। स्मृतिमें भ्रम होनेसे

बुद्धिका नाश होता है । तिस बुद्धिके नष्ट होनेसे वस्तुओंका स्वभाव तथा अपना स्वभाव भी भूलजाता है । तब ऐसे प्राणीसे जितने आचरण होते हैं सब स्वभावसे विरुद्ध होते हैं । स्वभाव-विरुद्ध होनेसे दुःखपाता है और नष्ट होजाता है । इस वचनको भगवान् अध्याय ३ श्लोक ३२ और ३३ में कहआये हैं ।

क्रोधमें ही आकर स्वभावोंकी स्मृति भ्रष्ट होनेसे मनुष्य विषके स्वभावको भूलकर खालेता है तथा खड्गके स्वभावको भूलकर अपनें हाथसे अपना मारा देता है । इसलिये यह सिद्धान्त है, कि सारे ब्रह्माण्डमें स्वभाव ही वर्त्तमान है । स्वभावानुकूल कर्तृत्व पालन करना धर्म है । प्रतिकूल अधर्म है । इसी कारण श्रुतिने कहा है, कि इस शरीररूप वृक्षपर दो पक्षी हैं एक कर्मोंका करनेवाला और उनके फलोंका भोगानेवाला है तथा दूसरा सबसे न्यारा केवल साक्षीमात्र है ॥ १४ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की भगवन् ! इस जीवमें स्वभाव तो अवश्य है, पर करनेके शस्त्र जो इन्द्रियां वे तो उसी महाप्रभुकी दी हुई हैं अथवा उसी आत्माकी शक्ति इनमें प्रदान की हुई है । तो उस महाप्रभुमें कर्तृत्व तो नहीं है पर कारयितृत्व तो सिद्ध होता है । जैसे कोई किसीके हाथमें खड्ग देवे तो अवश्य कुछ काटनेके तात्पर्य्यसे देगा, मुखसे कहे वा नहीं कहे । इसी कारण कर्तृत्वका दोष उसमें नहीं लगेगा पर कारयितृत्व (प्रेरणाकरके कराने) का पाप तो अवश्य ही लगेगा । फिर वह निर्दोष और निर्लेप क्यों कहाजावे ?

इतना सुन भगवान उत्तर देते हैं—

मू०— नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

पदच्छेदः— विभुः (परमेश्वरः । व्यापकः । आप्तकामः । परिपूर्णः) कस्यचित् (कस्याऽपि पुरुषस्य) पापम् (अघम्) न (नहि) आदत्ते (गृह्णाति । आत्मसम्बद्धं करोति) च (तथा) सुकृतम् (पुण्यम्) एव (निश्चयेन) न (नैव) [गृह्णाति] अज्ञानेन (आवरणविक्षेपशक्तिमता मायाख्येन) ज्ञानम् (विवेकः । विज्ञानम् । सर्वत्र समम् परमेश्वर इत्येवं भूतं ज्ञानम्) आवृतम् (आच्छादितम्) तेन [हेतुना] जन्तवः (अविवेकिनः । संसारिणो जीवाः) मुह्यन्ति (विक्षेपं गच्छन्ति । मोहं प्राप्नुवन्ति । भगवति वैषम्यं मन्यन्ते वा) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (विभुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (कस्यचित्) किसीके भी (पापम्) पापको (नादत्ते) नहीं ग्रहण करता है (च) तथा किसीके (सुकृतम्) पुण्यको (एव) निश्चय कर कभी भी (न) नहीं ग्रहण करता । केवल (अज्ञानेन) आवरण विक्षेपादि उत्पन्न करनेवाली मायामयअज्ञानतासे (ज्ञानम) आत्मज्ञान (आवृतम्) आच्छादित होरहा है (तेन) इसी कारणसे (जन्तवः) संसारी अज्ञानी जीव (मुह्यन्ति) विक्षेपको प्राप्तहोकर ईश्वरमें विषमदृष्टि कियेहुए मोहमें पडे रहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो शंकाकी है, कि परमेश्वरमें कर्तृत्व तो

नहीं है पर कारयितृत्व अर्थात् कर्म करानेकेलिये प्रेरणा करनेका स्वभाव तो अवश्य है इसलिये करानेका फल उसे क्यों नहीं प्राप्त होगा ? तिसका समाधान करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः**] वह जो व्यापक प्रभु है, जो सबके साथ है पर इन चर्मचक्षुओंसे देखानहीं जाता है सो किसीके भी पाप पुण्यका ग्रहण नहीं करता । अर्थात् किसी प्राणीके पाप पुण्यसे कुछ आत्मीय सम्बन्ध नहीं रखता ।

उसे यहां " विभुः " इसलिये कहा है, कि वह सब छोटे बड़ेमें व्यापक होनेपर भी देखा नहीं जाता । " **न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः** " (सुश्रुत अध्याय ५) अर्थात् वह जो " **विभुः** " सबमें व्यापक परमात्मा है सो (अणोरणीयान्) अत्यन्त छोटेसे छोटा होनेके कारण सूक्ष्मतम कहाजाता है सो इन आंखोंसे नहीं देखाजाता । श्रुति भी कहती है, कि " **न तत्र चक्षुर्गच्छति** " तिस व्यापक विभु परमात्मामें आंख नहीं जाती सो ऐसा विभु केवल शरीरमें व्यापकर कर्मोंके करनेकी सामर्थ्य तो अवश्य देता है पर " **कारयितृत्व** " का दोष उसे नहीं लगसकता इसी कारण किसीके पुण्य पापको नहीं ग्रहणकरता । यदि कहो, कि पापोंके ग्रहण करनेसे वह डरताहोगा तो कहते हैं, कि (**न चैव सुकृतम्**) किसीके पुण्यको भी ग्रहण नहीं करता । क्योंकि पुण्यकी इच्छा तो उसको होती है जिसे किसी प्रकारकी कामना हो पर सो (**विभुः**) व्यापक परमात्मा सर्वकामपूर्ण है इसलिये किसीके पुण्य ग्रहण करनेसे उसे क्या लाभ ? इसलिये जब वह किसीका पुण्य ही ग्रहण नहीं करता तो पाप कैसे ग्रहण करसकता है ?

शंका— यह तो एक प्रकारका कपट-व्यवहार हुआ । जैसे कोई किसीको पन्थमें धोखा देकर गडहेमें गिरादेवे और आप वहांसे बिलग होजावे तो क्या वह पुरुष न्यायानुसार दण्डनीय नहीं है ? जैसे मछुआ मछलियोंको बोरकी लालच दे फँसालेता है पीछे उसे भून कर खाजाता है । इसी प्रकार वह सर्वेश्वर अपनी माया फैला जीवोंको विषयका बोर देकर पीछे जडमूलसे नाश करदेता है । और आप अलग रहता है । जैसे कुडरी किसीके घरमें आग लगा आप चुपचाप बैठ कौतुक देखती है । अथवा जैसे छोटे बच्चे चिडियोंको पटकदेते हैं चिडियें परमारने और चीखने लगती हैं और वे ताली मारकर हँसने लगते हैं । ऐसे ही यदि वह परमात्मा सबोंका दुःख देखता रहता है और आप चुपचाप अलग बैठा हुआ किसीकी कुछ भी परवाह नहीं करता है तो उससे अधिक निर्दयी और बालबुद्धि कौन होगा ? इससे उचित है, कि परमात्माको कारयितृत्व अर्थात कर्मोंके करानेका अवश्य दण्ड लगना चाहिये, तथा पाप पुण्य दोनोंका ग्रहण करनेवाला उसे कहना चाहिये । फिर भगवान्ने ऐसा क्यों कहा, कि वह (विभुः) जीवोंके पुण्य पापसे न्यारा है ?

समाधान— वह व्यापक सर्वत्र सब कुछ देखरहा है । गडहों में गिरानेवालेको दोष तब लगेगा जब वह किसीका हाथ पकड उसकी आंखोंमें पट्टी बांध अंधेली रातमें गडहेमें गिरादेवे, पर जिसने करोडों सूर्य्यके समान प्रकाश करके सहस्राक्ष बनाकर अर्थात हजारों आखें देकर किसी मार्ग पर भेजा है तब जो वह गडहेमें गिरपडे तो यह उसका स्वयं अपना दोष है । मार्गपर चलनेकी प्रेरणा करने-

वालेने तो सर्व प्रकारके यत्न करदिये हैं । कहावत है, कि " चले-न जाने आंगन टेढा " जो चलना नहीं जानता है वह आंगनको टेढा बताता है, यह जीव अहंकारका मद्यपान कर अपने आप मत्त हो गडहेमें गिरपडा है, तहां बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये, कि जब उस विभुने मायाकी अंधकाररात्रि बनायी तब वह इस जीवके साथ आप करोडों सूर्योका प्रकाश लेकर आबैठा । जीवके साथ होने-से तात्पर्य उसका यही है, कि वह दयासागर कहा जाता है । जीवों का दुःख तनक भी नहीं देख सकता । हां उसकी मायाने जब प्रपंचकी रचना की है तो इसमें जीवोंके देखनेमात्र दो विरुद्ध धर्म डाल दिये हैं । यद्यपि इन दोनोंकी स्थिति है नहीं पर माया करके ये दोनों भासते हैं । जैसे आंखोंमें अँगुली डालकर देखो तो उस अँगुलीकी उपाधिके कारण दो चन्द्रमा भासते हैं । इसलिये उचित है, कि बुद्धिके नेत्रोंमें जो अज्ञानताकी अँगुली घुसेड रखी है उसे निकाल दो तो इन दोनोंका भ्रम मिटजावेगा । इसी कारण भग-वान् अर्जुनसे कहते हैं, कि यथार्थमें द्वैत कहीं भी नहीं है पर [**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् तेन मुह्यन्ति जन्तवः**] अज्ञानसे ज्ञान ढकगया है इस कारण जीव मोहको प्राप्त होते हैं अर्थात् मैं दुखी हूं, मैं सुखी हूं, मैं राजा हूँ, मैं सब कुछ करसकता हूं इसी अहंकारको अज्ञान कहते हैं । तिस अज्ञानताने ज्ञानको ढकलिया है जिससे संसारी जीव मतवालोंके समान मोहित हो अपनी दशा भूल अपनी स्मृतिसे भ्रष्ट हो विषय और कर्तृत्वाभिमानके गडहेमें गिर रहे हैं ।

शंका— जहां परम प्रकाश साथ है तहां अँधियाली कैसे होसकती है ?

समाधान— चाहे कितना भी प्रकाश घरमें क्योंन हो पर प्राणी अपनी आंखें बन्द करलेवे तो कुछ भी नहीं सूझेगा । इसी प्रकार जिसने उस परम प्रकाश भगवत्—स्वरूपकी ओरसे आंखें बन्द करली हैं वही मायाके गडहेमें गिरता है । क्योंकि उसने मारे अहंकारके सर्व प्रकारके कर्तृत्व अपनेमें निरूपण कररखे हैं । पर जो कर्तृत्वाभि-मान छोडकर भगवत्के भरोसे अपने नवद्वारके शरीरमें सुख-पूर्वक चुप बैठ परमानन्द भोगरहा है उसे न कहीं कर्तृत्व है और न कर्म-फल संयोग है । फिर जब कर्तृत्वहीका अभाव होगया तो कारयितृत्व कहांसे आवेगा ?

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि वह महाप्रभु किसीके पाप पुण्योंका सम्बन्ध नहीं करता न कर्म्मोंको किसीके कन्धे फेंकता है । सच तो यह है, कि अज्ञानतासे ज्ञान ढकरहा है इसलिये यह जीव मोहमें पडकर अनिष्ट-कर्म्मोंका साधन करता हुआ कर्म्मोंका दोष भगवत्में निरू-पण करता है । यथार्थ तत्त्वसे बंचित रहता है । इसी कारण यह जीव **प्रमाता, प्रमाण, और प्रमेय। कर्ता, कर्म क्रिया, भोक्ता, भोग्य, और भोग** इन नव प्रकारके भ्रमरूप विक्षेपोंसे मोहित होरहा है ॥ १५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! एवम् प्रकार ज्ञानपर जिस अज्ञानरूप आवरणके पडनेसे प्राणी मोहित होरहा है सो आवरण हटकर जब ज्ञानका उदय होगा तो प्राणीको कौनसा अमूल्य पदार्थ लाभ होगा ? समझाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन सुन—

मू०— ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानम्प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

पदच्छेदः—येषाम् (जन्तूनाम्) तत् (पूर्वोक्तम्) अज्ञानम् (आवरणविक्षेपसामर्थ्यम् वैषम्योपलम्भकमज्ञानम्) आत्मनः ज्ञानेन (गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येन । विवेकेन । निर्मलान्तःकरणवृत्तिरूपेण । ब्रह्मास्मीति प्रमाणजेन) नाशितम् (बाधितम्) तेषां (मुमुक्षूणां) तत् (कर्तृत्वकारयितृत्वादि-रहितं) ज्ञानम् आदित्यवत् (सूर्यवत्) परम् (परमार्थतत्त्वम् । प्रकाशस्वरूपं सच्चिदानन्दं भगवन्तम्) प्रकाशयति (प्रतिच्छायाग्रहणमात्रेणैव कर्मान्तरेणाभिव्यनक्ति) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (येषां) जिन जीवोंका (तत्) वह जो पूर्व श्लोकमें कथन कियाहुआ (अज्ञानम्) आवरण विक्षेप रूप अज्ञान (आत्मनः) अपने आत्माके (ज्ञानेन) ज्ञानसे निश्चय करके (नाशितम्) नाश होगया है (तेषां) तिन मुमुक्षु पुरुषोंका (ज्ञानम्) सो ज्ञान (आदित्यवत्) सूर्यके प्रकाशके समान (तत्परम्) तिस परम प्रकाश स्वरूप सच्चिदानन्दको (प्रकाशयति) प्रकट कर देता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब श्री सच्चिदानन्द आनन्द-कन्द सर्वेश्वर भगवान् अर्जुनके पूर्व प्रश्नका उत्तर इस श्लोकद्वारा देतेहुए कहते

हैं, कि [ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः] जिस प्राणीका पूर्व श्लोक कथित अज्ञान उसके आत्मज्ञानसे नाश होजाता है अर्थात् जिस अज्ञानीने ऐसा मानलिया है, कि मैं राजा हूं, मैं रंक हूं, मैं सुखी हूं, मेरा यह परिवार है, मैं संसारी व्यवहारोंको बडी चतुराईसे सम्पादन करता हूं, मैं संसारी हूं, व्यवहारी हूं, भण्डारी हूं, पटवारी हूं, और दरबारी हूं, । ऐसे नाना प्रकारके आवरण और विक्षेपोंसे जिसका अन्तःकरण मलीन होरहा है, जो इन नाना प्रकारके उपद्रवोंके वश क्षणमात्र भी स्थिर नहीं होता, और शान्तिलाभ नहीं करता, तिस ऐसे जीवके अज्ञानका जब आत्मज्ञानसे नाश होजाता है अर्थात् जब प्राणीको ऐसा बोध होजाता है, कि मैं जीव नहीं, मैं दुखी नहीं, मैं सुखी नहीं, मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नहीं, मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ वा सन्न्यासी नहीं, पंजाबी नहीं और बंगाली नहीं मैं तो सदा शुद्ध बुद्ध निर्मल निर्विकार प्रकाश-स्वरूप निर्द्वन्द्व सर्वप्रकारके बन्धनोंसे रहित आनन्द-स्वरूप आत्मा हूं । तब वह प्राणी आनन्दमय होजाता है ।

शंका— जीवोंका दुःखी सुखी होना, ब्राह्मण क्षत्रिय होना, संसारी होना, मूर्ख और पण्डित होना, राजा और रंक होना, प्रत्यक्ष प्रतीत होता है । तिस प्रतीतिका अभाव कैसे हो ? क्योंकि जिस वस्तुकी प्रत्यक्ष प्रतीति होरही है और तदनुसार व्यवहार होरहा है, तिसका अभाव होना दुस्तर है । फिर इस अज्ञानताका अभाव कैसे सम्भव है ?

समाधान— उपलम्भात् समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते।

उपलम्भात् समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ (गौडपादीयकारिका प्रकरण ४ श्लो० ४४)

अर्थ— उपलम्भ जो अनुभव और आचार इन दोनोंसे जैसे मायाका हस्ती प्रतीत होता है इसीप्रकार उपलम्भ और आचारसे सृष्टि मात्रकी वस्तुओंकी प्रतीति होती है और सभी कहते हैं, कि अमुक वस्तु है।

तात्पर्य्य यह है, कि जैसे किसी इन्द्रजाल वालेने एक हाथी बना कर देखनेवालोंके सामने चलादिया तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें ठीक-ठीक सब व्यवहार हस्तीके ही प्रतीत होते हैं। पर, जो सत्य पूछो तो यथार्थ हस्ती कहीं भी नहीं है। इसी प्रकार सृष्टिमात्रकी वस्तुओंमें जो सत्यताकी प्रतीति होती है वह यथार्थ नहीं केवल प्रतीति और आचारसे वस्तु तत्तुकी सत्यता सिद्ध नहीं होसकती ॥

प्रतीतिका कारण केवल आभास है। तिस आभासके तीन भेद हैं॥ वे सत्य नहीं वे तीन आभास कौन-कौन हैं ? सो सुनो !

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥ (गौ० पा० का० अ० ४ श्लो० ५) जैसे देवदत्त जब जन्मलेता है तो देखनेवाले कहते हैं, कि आज देवदत्तने जन्मलिया है। सो यथार्थमें केवल आभासमात्र है। इसीको **जात्याभास** कहते हैं। जब कहते हैं, कि देखो वह देवदत्त चलाजाता है तो इसको **चलाभास** कहते हैं। फिर कहते हैं, कि देवदत्त गौर है। यथार्थमें शरीरी जो जीव तिसका कोई रंग रूप नहीं

पर कहनेमात्र गौर पीत कहाजाता है। अथवा इन्द्रधनुष (पनसोखा) को प्रकटहुए देखते हैं जिसमें नाना प्रकारके नील पीत रंगोंकी प्रतीति होती है, सो यथार्थमें न तो कहीं नील है, न पीत है वहां तो शून्य आकाश है केवल छोटे-छोटे जलके बिन्दुओंपर सूर्य्यकी किरणें पडती हैं इसलिये भिन्न-भिन्न रंगोंकी प्रतीति होती है। अथवा मृगतृष्णाको दूरसे देखनेसे जलकी प्रतीति होती है इसीको **वस्त्वाभास** कहते हैं। ये तीनों प्रकारके आभास असत् वस्तुओंमें सत्की प्रतीति कराते हैं। इसी प्रकार यह जीव इन आभासोंके कारण जनमता मरता देखपडता है। यथार्थमें अजन्मा है, अचल है; अद्रव्य है और उपाधियोंसे रहित देखेजानेपर शुद्ध निर्मलात्मा कहाजाता है। जबतक आभासोंकी उपाधि है तबहीतक यह जीव अपनेको दुखी, सुखी, राजा, रंक इत्यादि समझरहा है इसीको अज्ञानता कहते हैं। सो अज्ञानता जब शुद्ध निर्मल अन्तःकरण होनेसे दूर होजाती है तब आत्म-ज्ञानरूप परम प्रकाशका उदय होता है। जब आत्मज्ञान-रूप परम प्रकाशका उदय हुआ तो यथार्थ बोधसे सम्बन्ध हुआ जानना चाहिये। इस विषयको अन्य उदाहरणोंसे भी सिद्ध करते हैं सुनो! "**स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥** (गौ० पा० प्रक० २ श्लो० ३१)

अर्थ— जैसे प्राणी गन्धर्व-नगरको स्वप्नमें देखता है, तिसकी शोभा देखकर मोहित होजाता है और तहां सब बातें सच्ची ही प्रतीत होती हैं पर निद्रा टूटनेके पश्चात् उनमें एक तृणमात्र भी किसी वस्तुका पता नहीं लगता, कि वे कहांसे आयी थीं और कहां चलीगयीं ? इसी

स्वप्नके समान जागरित अवस्थामें भी अज्ञानियोंको विश्वमात्रकी प्रतीति होती है पर जो वेदान्तमें विचक्षण हैं उनकी दृष्टिमें यह जगत स्वप्नके गन्धर्व-नगरके समान भासता है। जैसे स्वप्नमें मरेहुए पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, कलत्र इत्यादिको देख उनसे बार्तालापकर प्रसन्न होते हैं इसी प्रकार आत्मज्ञानी जानते हैं, कि हम इस जाग्रतअवस्थामें भी उन अपने पिता, पितामहादिको देख बार्तालापकर प्रसन्न हुए थे।

हां! जागरित और स्वप्नमें केवल कालकी अपेक्षा इतना ही अन्तर रहा, कि एक चिरंकालका स्वप्न है और एक अचिर (स्वल्प) कालका स्वप्न है, पर हैं दोनों समान। इन दोनोंके रूपमें केवल इतना ही अन्तर है, कि स्वप्नवाली वस्तु स्मृतिके घन होनेके कारण मनोमयी प्रतिमाके तुल्य हैं और जाग्रतवाली वस्तु परमाणुओंके घन होनेके कारण मृन्मयी प्रतिमाके तुल्य हैं, एक स्थूल है एक सूक्ष्म है, पर नश्वर दोनों हैं, तहां जागरितसे स्वप्नको ही श्रेष्ठ कहना चाहिये। क्योंकि स्वप्नवाली वस्तुको तो फिर सैकडोंबार स्वप्नमें देखसकता है पर जागृतमें तो बहुतसी वस्तुओंको एक ही बार देखता है फिर लौटकर कदापि नहीं देखसकता।

मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि ज्ञानी इस विश्वमात्रको स्वप्नके समान जानता है जैसे जागरित होनेसे साधारण पुरुष स्वप्नकी प्रतीतिको मिथ्या समझता है। इसी प्रकार ज्ञानके उदय होनेसे ज्ञानी भी इस जागरितको मिथ्या समझता है। जैसे स्वप्नमें ब्राह्मण और गाय मारनेकी हत्या तथा अपने घर जलजानेकी विपत्ति बिना जागे नहीं छूटसकतीं। इसी प्रकार इस संसारका दुःख बिना ज्ञान हुए नहीं

छूटसकता । गोस्वामी तुलसीदासने कहा है, कि " **जो स्वप्ने सिर-काटे कोई । बिन जागे दुख दूर न होई** " ॥ पर ज्ञान प्राप्तहोना खेल नहीं है । जिसे चारों वेद कंठ हों जो षट्शास्त्र-वेत्ता हो पर आत्म-ज्ञानका लेशमात्र भी न हो, इन्द्रियां वशीभूत न हों, विषयका अन्तः-करणसे त्याग न हो तो वह ज्ञानी नहीं कहाजासकता । यदि वेद शास्त्रा-दिमें निष्णात होना ही आत्म-ज्ञान होता तो नारद जो चौदहों विद्या निधान थे सनत्कुमारके पास आत्मज्ञानकी प्राप्ति निमित्त जाकर यों नहीं कहते, कि " **मंत्रविदेवास्मि नात्मवित** " मैं केवल मंत्रका ही जाननेवाला हूं आत्मविद्या नहीं जानता ।

इसलिये केवल ज्ञानकी बातें करनेसे कोई भी ज्ञानी नहीं कहा-जासकता । " **निशि गृह मध्य दीपकी बातनि, तम निवृत्ति नहि होई** " (तुलसी) अर्थात रात भर कोई अपने अंधेले घरमें बैठकर दीपकी बातें करता रहे तो केवल दीप-दीप बकनेसे घरमें प्रकाश नहीं होसकता । फिर कहते हैं, कि " **षट्रस भोजन बहु प्रकार कोउ दिन अरु रैन बखाने । बिन बोले सन्तोषजनित सुख खाय सोई पै जाने** " (तुलसी) अर्थात् षट्रस भोजनका वर्णन कोई दिन रात करता रहे पर भोजनसे जो सन्तोषजनित आनन्द होता है वह उसे प्राप्त नहीं होसकता, वह तो वही जानता है जो उसे खाता है । इसी प्रकार गुरुचरण-सेवा द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ कर परम-तत्त्वको लाभ किया जाता है । इसी कारण आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [**तेषामादित्यवज्ज्ञानं**

प्रकाशयति तत्परम्] इन ज्ञानवान् पुरुषोंका जो ज्ञान है वह आदित्यके समान परम प्रकाशसे उस परब्रह्मको प्रकट कर दिखलादेता है । अर्थात् जैसे सूर्यके उदय होनेसे अन्धकारका नाश होकर सब वस्तु तस्तु दीखने लगजाती हैं और मनुष्य तथा पशु पक्षी सब अपने-अपने शारीरिक व्यवहारोंमें लगपडते हैं, तथा मार्ग चलनेवालोंको मार्गकी उंचाई निचाई तथा कंटक इत्यादि दृष्टिमें आने लगते हैं । इसी प्रकार यह जीव जो अज्ञानता-रूप अन्धकार-रात्रिमें भटकता हुआ इधर उधर टक्करें खाताहुआ नाना प्रकारके विषय-रूप कंटकों से छिदाहुआ व्याकुल फिरता है इस ज्ञान-रूप आदित्यके उदय होते ही आनन्दपूर्वक चलताहुआ भगवत्-स्वरूपमें जामिलता है । इसी कारण भगवानने कहा, कि प्राणीका यह ज्ञान सूर्यके समान उस परब्रह्म स्वरूपको उस ज्ञानवान् प्राणीके हृदयमें प्रकट करदेता है । श्रुति भी इसी वार्त्ताका प्रतिपादन करती है, कि श्रुतिः— " तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति " (प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १ श्रुतिः १६)

अर्थ— जिन लोगोंमें (जिह्म) कुटिलता, कपट तथा झूठ और माया " जिसका रूप पहले वर्णन करआये हैं " नहीं है जिनने साधारण जीवोंके समान कामान्ध न होकर ज्ञानवैराग्यके नेत्रोंको खोल-रखा है उन्हीं लोगोंके लिये यह निर्मल ब्रह्मलोक है ॥ १६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! ज्ञानके प्रकाश द्वारा परम तत्त्वके प्राप्त होनेसे क्या फल होता है ? सो कृपा कर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूत-कल्मषाः ॥१७॥

पदच्छेदः— ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (यथोक्तेन ज्ञानेन समूलमुन्मूलितं संसारकारणं येषां ते) तद्बुद्धयः (तस्मिन् ज्ञानप्रकाशिते परमार्थतत्वे परब्रह्मणि साधनपरिपाकात्पर्यवसिता बुद्धिर्येषां ते) तदात्मानः (तदेव परब्रह्मात्मा येषां ते) तन्निष्ठाः (तस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वकर्मानुष्ठानविक्षेपनिवृत्त्या स्थितिर्येषां ते) तत्परायणाः (तदेव परमायनमाश्रयो येषां ते) अपुनरावृत्तिम् (पुनर्देहसम्बन्धाभावरूपां मुक्तिम्) गच्छन्ति (प्राप्नुवन्ति) ॥ १७ ॥

पदार्थः—(ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) पूर्व कथन कियेहुये ज्ञान के द्वारा संसारके बन्धन जड मूलसे नाश होगये हैं जिन पुरुषोंके तथा (तद्बुद्धयः) तिस ज्ञानसे प्रकट कियाहुआ परम तत्त्व जो परब्रह्म तिसमें दिवा-रात्रि लगीहुई है बुद्धि जिनकी (तदात्मानः) सो ही परब्रह्म आत्मा है अर्थात् अपना स्वरूप है जिनका (तन्निष्ठाः) तिसी भगवत्स्वरूपमें अहर्निश निष्ठा है जिनकी (तत्परायणाः) तिसी सच्चिदानन्द घनको अपना परम अयन अर्थात् आश्रय समझा है जिनने ऐसे प्राणी (अपुनरावृत्तिम्) फिर नहीं शरीर धारण करने वाली मुक्तिको (गच्छन्ति) प्राप्तहोते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थः— अब श्री आनन्दकन्द अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देतेहुए कहते हैं कि [ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः] ज्ञानसे जिन

पुरुषोंके कल्मषोंका नाश होगया है वे ही ज्ञाननिर्धूतकल्मषा: कहेजाते हैं। अब उन कल्मषोंके स्वरूप दिखायेजाते हैं— अज्ञानताके कारण प्राणियोंका मोहमें पडकर अपनेको जीव समझते हुए अत्यन्त दुःखी होकर संसारी बनारहना। विषयोंके फन्देमें पडकर भगवत्स्वरूपकी ओरसे विमुख रहना। महा घोर मोहकी अन्धकार-रात्रिमें सोये रहना। जैसे चन्द्रमाकी निर्म्मलता के ऊपर श्यामताईका कलंक लगाहुआ है इसी प्रकार नाना प्रकारके निन्दित कर्म रूप कलंकोंसे दूषित रहना। कूपघटिकायन्त्रन्यायानुसार बार-बार जन्म मरणमें फँसेहुए नीचे ऊपर होते रहना। अलावू (सूखे तूंबे) के समान संसारके प्रवाहमें उलट-पुलट करते हुए गोते खाते हुए इस धारसे उस धारमें बहते रहना। चौरासी लक्ष योनियोंमें भूलभूलैयाका खेल खेलते हुए व्याकुल रहना। ये सब उक्त उपद्रव संसारी प्राणियोंके लिये कल्मष कहेजाते हैं। जो प्राणी जब गुरुशुश्रूषा द्वारा ज्ञानको प्राप्तकर पूर्वोक्त सारे उपद्रवोंकी शान्ति करलेते हैं, तब वे ही बुद्धिमानोंके द्वारा **ज्ञाननिर्धूतकल्मषा:** कहेजाते हैं। और तबही वे उस ज्योतिर्मय परब्रह्मको अपने भीतर देखते हैं। प्र० श्रु०— **अन्तः शरीरे ज्योतिर्म्मयो हि शुभ्रोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः** (मुंड० ३ अ० १ श्रु० ५)

अर्थ— जो लोग दोषोंसे अर्थात् कल्मषोंसे रहित होगये हैं वे उस ज्योतिर्म्मय शुभ्रवर्ण परब्रह्मको अपने हृदयके भीतर देखते हैं। इसी तात्पर्य्यसे भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! मेरे पूर्व्व कथनानुसार ज्ञानद्वारा नाश करलिया है संसार-बन्धनका कारण जिन्होंने अर्थात् जो निर्द्धूतकल्मष होगये हैं तथा [**तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठा-**

स्तत्परायणाः] तद्बुद्धयः होरहे हैं अर्थात् नाना प्रकारके निष्काम-कर्मयज्ञोंका साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्तकर उस परम तत्त्व भगवत्स्वरूपमें लगारखी है अपनी सम्यक् बुद्धि जिन पुरुषोंने, जिनकी बुद्धि सर्व वेद शास्त्रोंके यथार्थ मर्म्मोंको समझकर सबको उल्कावत् परित्याग करती हुई उस परम ब्रह्म तक पहुंच गई है अर्थात् अणुसे लेकर विराट्तक जहां-जहां उनकी बुद्धिकी दौड पहुंचती है तहां-तहां सर्वत्र भगवत्स्वरूप ही अर्थात् बुद्धिके + पांचों अंगोंको लय करदिया है भगवत्स्वरूपमें जिनने तथा

+ " इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवहारः समाधिता। संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पंच गुणान् विदुः (महाभारते मोक्षधर्मे) १ इष्टानिष्टविपत्तिः, २ व्यवहार, ३ समाधिता, ४ संशय और ५ प्रतिपत्तिः ये बुद्धिके पांच विशेष गुण हैं।

१. इष्टानिष्टविपत्तिः— जब इष्ट अनिष्ट दोनोंका कहीं पता नहीं लगनेसे अत्यन्त विचार करते-करते बुद्धि किसी स्थानपर थककर रहजाती है उसे इष्टानिष्टविपत्ति कहते हैं।

२. व्यवहारः— विचारते-विचारते जब विचारनेकी इच्छा और भी बढती जाती है तब उसे व्यवहार कहते हैं।

३. समाधिता— जब विचारको समाप्तकर बुद्धि स्थिर होजाती है तब उस दशाको समाधिता कहते हैं।

४. संशयः— जब बुद्धि एक तत्वको निश्चय नहीं करसकती अर्थात् हां-ना दोनों कोटियोंमें लगी रहती है तब उसे संशय कहते हैं। यह दशा मनके समीप है। अर्थात् मन जब बुद्धिमें लय होने लगता है तब यह दशा उत्पन्न होती है।

निष्काम-कर्मयोग साधन करते-करते बारहों प्रकारके + मलोंसे बुद्धि निर्मलकर भगवतहीमें बसाली है जिन्होंने उन्हींको तद्बुद्धयः कहते हैं। फिर जो प्राणी तद्बुद्धि होकर "तदात्मानः" तदात्मा भी होरहे हैं अर्थात् जो पहले अज्ञानताके कारण अपने देहादि अनात्म पदार्थोंमें आत्माका भाव कहरहे थे, वे अब ज्ञान प्राप्त होतेही देहादिका अभिमान त्याग अपने आत्माको उस ब्रह्मस्वरूपमें लयकर ब्रह्मस्वरूप होगये हैं वे तदात्मा कहलाते हैं। किस प्रकार ये उस ब्रह्मस्वरूपमें आत्माको लय करते हैं सो श्रुति कहती हैं श्रु०— ॐ ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषः। तमेकमेव पश्यन्ति परिशुद्धं विभुं द्विजाः॥ यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम्। तस्मिन्नेव लयं यान्ति बुद्बुदाः सागरे यथा॥ (चूलिकोपनिषत् खं० ४ श्रु० १६, १७)

अर्थ— जो द्विज ज्ञानचक्षुष हैं, जिनने ज्ञानका लाभ किया है

---

५. प्रतिपत्तिः— प्रत्यक्ष प्रमाणको ग्रहण करनेवाली दशाको प्रतिपत्तिः कहते हैं।

+ बारह प्रकारके मलोंका वर्णन— "शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता। ईर्ष्या मानो विचिकित्सा कृपासूया जुगुप्सता॥ द्वादशैते बुद्धिनाशहेतवो मानसा मलाः" (कालिकापुराण अ० १८) अर्थ— १. शोक, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. काम, ५. मोह, ६. परासुता (मृतत्व) ७. ईर्ष्या, ८. मान, ९. विचिकित्सा (सन्देह) १०. अकृपा, ११. असूया और १२. जुगुप्सा (दूसरोंसे घृणा) ये बारह प्रकारके मल (बुद्धिविकार) अन्तःकरण नष्ट करनेवाले हैं।

वे उस एक निर्मल विभुको जिसमें सब स्थावर जंगम ओत-प्रोत हैं निर्म्मलज्ञानके नेत्रसे देखतेहुए उसीमें ऐसे लय होजाते हैं जैसे सागरमें बुद्बुद् (बुलबुले) । सूक्ष्म तात्पर्य्य इस श्रुतिका भी यही है, कि ज्ञानद्वारा परब्रह्मको प्राप्तकर उसीमें अपनेको बुद्बुद् समान जो लय करदेते हैं वे ही तदात्मा कहेजाते हैं । बुद्बुद्से दृष्टान्तदेकर श्रुतिने यह भी जनादिया, कि जैसे बुद्बुद जलहीसे निकलता है फिर जलहीमें लय होजाता है इसी प्रकार जो ज्ञानी उसी ब्रह्मसे निकलते हैं फिर उसीमें लय होजाते हैं इसीको यथार्थ तदात्माहोना कहते हैं ।

शंका— श्रुति स्वयं कहती है, कि सब स्थावर जंगम उसीमें ओत-प्रोत हैं तो इससे सिद्ध होताहै, कि ज्ञानी अज्ञानी सब उसीमें लय होते हैं, तो भगवान्ने केवल ज्ञानियोंको उसमें लय होनेसे तदात्मानः क्यों कहा ? सबको तदात्मानः क्यों नहीं कहा ?

समाधान— ज्ञानी और अज्ञानी तदात्मा हैं पर एक मायाकी निद्रामें सोयाहुआ है और एक जगाहुआ है । जिसके विषय श्यामसुन्दर पहले कहआये हैं, कि "**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी**" अर्थात सब भूतोंकेलिये जो आत्मज्ञान रात्रिका स्वरूप है उसमें संयमी जागता है ।

कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि अज्ञानी अनात्मामें आत्मभाव कररहा है इसलिये अपना स्वरूप भूलाहुआ है और ज्ञानी सबको आत्मस्वरूप जानता है इसलिये अपने आपमें जगाहुआ है । जैसे दो राजा एक स्थानमें हों उनमें एक तो जगाहुआ हो और दूसरा निद्राके वशीभूत होकर स्वप्न देखरहा है तिस स्वप्नमें अपनेको महादरिद्र भिक्षा

मांगताहुआ देखे तो जबतक वह जागेगा नहीं तबतक उसे अपने राजा होनेका सुख नहीं है । और जो जगाहुआ है वह सुखी है । इसी प्रकार ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको तदात्मा कहसकते हैं पर दोनोंमें उक्त अन्तरके कारण ज्ञानीको ही यथार्थ तदात्मा कहना उचित है । इसी कारण भगवान्‌ने जिनको तद्बुद्धय: कहा है, उन्हींको (तदात्मान:) ऐसे विशेषणसे भी पुकारा है । यदि कहो, कि एकको सोयाहुआ एकको जगाहुआ क्यों कहते हो ? क्योंकि नाना प्रकारके कर्म्मोंके अनुष्ठानमें तो सब समान देखेजाते हैं, ज्ञानी भी वैसे ही कर्म करता है जैसे अज्ञानी। इसी सन्देहके दूर करनेके अभिप्रायसे भगवान् उस तद्बुद्धि और तदात्मा को (तन्निष्ठ) भी कहरहे हैं । अर्थात् ज्ञानी अज्ञानी यद्यपि दोनों समानरूपसे शरीरका व्यवहार करतेहुए देखपडते हैं पर दोनोंमें यही अन्तर है, कि अज्ञानी अज्ञाननिष्ठ होकर कर्म्म करता है और ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्म करता है । अर्थात् अज्ञानी संसारसुख चाहता है और ज्ञानी तन्निष्ठ होनेके कारण केवल परब्रह्म जगदीश्वरको ही चाहता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी तदात्मा है वह तन्निष्ठ भी अवश्य होगा । अर्थात ब्रह्मनिष्ठ भगवत्स्वरूपका प्यासा जो कुछ कार्य्य करताहुआ देखपडेगा सब उसी एक निष्ठासे करेगा । क्योंकि उसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती, निश्चयात्मिका होती है । इसीसे भगवान् पहले इसी अध्यायके श्लो० १२ में कह आये हैं, कि " युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकिम् " ब्रह्ममें युक्त पुरुष कर्म्मफलके त्यागदेनेसे कर्म्म करताहुआ भी ब्रह्मनिष्ठासे उत्पन्न शान्तिको प्राप्त होता है । इसलिये भगवान्

कहते हैं, कि जो प्राणी अपने कल्मषोंको ज्ञानद्वारा नाश करके उसी ब्रह्ममें अपनी बुद्धि, आत्मा और निष्ठाको लगायेहुए हैं वे ही परमानन्दके अधिकारी हैं। यदि कहो, कि निष्ठाका क्या ठिकाना है? किसी समय महाघोर माया आपत्ति पडनेसे बिशालबुद्धिवालोंकी निष्ठा भ्रष्ट होजाती है। जैसे विश्वामित्र ऐसे तपस्वीकी तपोनिष्ठा मेनका अप्सराकी सुन्दरताई देख टूटगई। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि (तत्परायणाः) यदि दृढ-निष्ठावालोंकी निष्ठा मायाके बलवती होनेसे प्रारब्धके वेग-द्वारा किसी समय टूट भी जावे तो जो प्राणी तत्परायण है अर्थात् जिसने उसी परब्रह्मको अपना आश्रय बनारखा है वह उस ब्रह्मको छोड इधर-उधर बहक नहीं जाता, जैसे दिग्-निर्णययंत्र (कम्पास) की सुई चाहे कितना भी बलकरके किसी दूसरी ओर खैंचकर रखदीजावे पर वह जब हाथसे छूटेगी झट उत्तराभिमुख ही होकर रहेगी। क्यों-कि उसका अयन तथा चुम्बक-पर्वत उत्तरहीकी ओर है। इसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ किसी विषयकी आपत्ति पडनेपर भी ब्रह्माभिमुख ही रहता है, ब्रह्मबिमुख होकर विषयकी ओर मुख नहीं करता, शंका मत करो।

भगवान् कहतेहैं, कि हे अर्जुन! जिन पुरुषोंने एवम् प्रकार ज्ञानद्वारा सर्व कल्मषोंको नाशकर " तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्त-त्परायणाः " होरहे हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि, आत्मा, निष्ठा और आश्रय उस महाप्रभुको छोड किसी अन्य पदार्थके बिचारमें नहीं जाते। वे ही प्राणी अवश्य [**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्**] अपुनरावृत्ति (**मोक्ष**) को प्राप्त होते हैं। अर्थात् फिर लौटकर मातृगर्भमें नहीं आते। इसी सिद्धान्तको भगवान् आगे भी कहेंगे। " यद्गत्वा न

निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम " (अ० १५ श्लो० ६) मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राणी मोक्ष परमपद प्राप्तकर भगवत्-स्वरूपमें लय होजाते हैं फिर लौटकर नहीं आते।

प्रिय पाठको! आज कलके बडे-बडे विद्वान ऐसा मानते हैं, कि मुक्त प्राणियोंकी पुनरावृत्ति होती है अर्थात मुक्त होनेके पश्चात फिर लौटकर वे संसारबन्धनमें आते हैं। पर ऐसा समझना उनकी भूल है। मुक्त प्राणियोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती। ऐसा कदापि नहीं होसकता। यदि ऐसा हो तो साधारण जीवमें और मुक्त प्राणियोंमें क्या अन्तर रहेगा ? क्योंकि साधारण प्राणी भी स्वर्गादिमें अपने कर्म-फलोंको भोग तिन कर्मोंके क्षय होनेसे क्षीणकर्मा होकर नीचे भिन्न-भिन्न योनियोंमें लौट आते हैं। ऐसे ही यदि मुक्त प्राणी भी बारम्बार लौट आया करे तो अनेक प्रकारके परिश्रमोंसे मुक्तिलाभ करनेका फल ही क्या हुआ ? यदि कहो, कि मुक्त-प्राणीका ज्ञान बना रहता है तो बनारहे पर मातृ-गर्भ रूप महा घोर नरकका दुःख तो उनको सहना ही पडेगा। यदि कहो, कि वे कल्पकल्पान्तर पर्यन्त सुख भोगकर गिरते हैं और साधारण शीघ्र ही गिरपडते हैं तो ऐसा कहना बनता नहीं। ऐसा कहनेसे मुक्त प्राणियोंमें भी देश काल और वस्तुका परिच्छेद पाया जावेगा फिर जिसमें देशकाल वस्तुका परिच्छेद हुआ वह मुक्त ही नहीं कहा जासकता। कोई कहे, कि देवदत्त बैठा भी है और चल भी रहा है तो ऐसा नहीं होसकता।

यदि ऐसे भूले हुए प्रमाद-ग्रस्त विद्वानोंसे पूछाजावे, कि मुक्त को लौटनेकी क्या आवश्यकता है ? तो वे इसका दो प्रकारसे उत्तर

देते हैं । प्रथम तो यह, कि यदि सब जीव मुक्त होते चले जावेंगे तो सृष्टि रुकजावेगी । क्योंकि फिर जीव कहांसे आवेंगे ? दूसरा यह, कि वे साधारण जीवोंके समान दुःख सुख भोगने नहीं आते केवल संसारी जीवोंको उपदेश करने आते हैं जैसे याज्ञवल्क्य, गौतम वा शंकराचार्य इत्यादि । पर इनका ऐसा कहना बालकोंके समान मीमांसा रहित होता है । ऐसा कहनेसे उस जगदीश्वर महा प्रभुको एक साधारण कोषाध्यक्षके समान मानना पडेगा जिसे चिन्ता बनी रहती है, कि जब मेरा टका निबटजावेगा तो फिर मैं कहांसे लाऊंगा । ऐसे कहनेवालोंने जीवोंको एक विशेष प्रमाणसे परिमित मानलिया है और ऐसा समझते हैं, कि जैसे-जैसे जीव मुक्त होतेजाते हैं तैसे-तैसे इधर इनकी संख्या कम होतीजाती है । सो ऐसा नहीं समझना चाहिये ऐसा समझना भूल है । किसी वेद, वेदान्त, श्रुति, स्मृति तथा पूर्वके महानुभावोंने गिनतीके जीव नहीं माने हैं। वरु ऐसा माना है श्रुतिः— "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यस्मिन् पर्य्यन्त्यभिसंविशन्ति ।

अर्थ— जिससे वे सब भूत उत्पन्न होते हैं और जिससे उत्पन्न हुए पालेजाते हैं फिर जिसमें प्रवेश करजाते हैं वही ब्रह्म है । जैसे सागरमें बुद्बुदे उत्पन्न होते हैं फिर उसीमें लय होजाते हैं इसी प्रकार उस ब्रह्मसे जीव निकलते रहते हैं । फिर उसीमें लय होते रहते हैं । ब्रह्मसूत्रमें भी व्यासदेवने ऐसा ही कहा है, कि " जन्माद्यस्य यतः " इन भूतोंकी उत्पत्ति पालन और संहार जहांसे होते रहते हैं वही ब्रह्म है । फिर श्रुति कहती है—

" तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते स रूपा । तथा अक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति " (मुण्ड २ खं० १ श्रु० १)

अर्थ— यह सत्य है, कि जैसे दीप्त अग्निसे सहस्रों चिनगारियां उत्पन्न हो फिर उसीमें लय होजाती हैं इसी प्रकार हे सौम्य ! उस अक्षर ब्रह्मसे सब जीव निकलते हैं और फिर उसीमें लय होजाते हैं। अतएव जीवोंकी गिनती नहीं होसकती। क्योंकि जहांसे वे आते हैं सो भण्डार पूर्ण है और उसमें जीवोंके निकलनेकी शक्ति भी पूर्ण है इसलिये चाहे करोडों जीव क्यों न मुक्त होजावें, जीवोंमें किसी प्रकार की अल्पता नहीं होसकती। जैसे किसी सागरमें करोडों बुदबुद क्यों न टूटजावें पर सागरमें जो बुदबुद बननेकी अपूर्व शक्ति है वह कभी कम नहीं होगी। अनगिनत बुदबुद बनते ही रहेंगे। इसी कारण जीवोंकी पुनरावृत्तिकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे सदा अनगिनत बनते ही रहेंगे। इसी प्रकार जो जीव ब्रह्मानन्दको पाकर सुखी होगया है वह फिर जीवत्वको पाकर दुःखी नहीं होसकता। इसीलिये मुक्तजीवोंकी पुनरावृत्ति माननी एकबारगी भूल है।

दूसरी बात यह है, कि उन्नति करता हुआ जो रूपान्तरको प्राप्त होता है वह फिर लौटकर पिछले रूपमें नहीं आता। जैसे इक्षुदण्डसे रस, रससे गुड, गुडसे शक्कर, शक्करसे चीनी, चीनीसे मिसरी, मिसरीसे कन्द, और कन्दसे ओला बनजाता है। फिर कोई चाहे, कि लौटाकर ओले से कन्द, कन्दसे मिसरी बनाते हुए इक्षुदण्डतक पहुंच जावे तो ऐसा न

कभी हुआ न होसकता है, अर्थात् ओला फिर इक्षुखण्ड नहीं होसकता।

यदि ऐसा कहो, कि जितना सुख उसे मिलेगा उतना ही बहुत है बीचसे लौट आवेगा। तो ऐसा मूर्ख कौन है जो आनन्दसे मुख मोड दुःखकी ओर लौटे। जो ब्रह्ममें लय होगया फिर लौटे कौन और क्या लौटे ? इस लौटने और नहीं लौटनेके विषय भगवान्ने आगे अ० ८ श्लो० २१ में स्वयं कहा, है कि " यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम "। जिसको प्राप्तकर मनुष्य फिर नहीं लौटता वही मेरा परम धाम है। इस कारण प्रिय पाठक ! इसे निश्चय कररखें, कि ज्ञान प्राप्त होनेसे प्राणी अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता।

तीसरी बात यह है, कि वह ब्रह्मानन्द असीम आनन्द है इसका अन्त तो कदापि हो ही नहीं सकता फिर इस असीम आनन्द भोगनेवालेको लौटनेकी इच्छा हो ही नहीं सकती वरु जैसे-जैसे आगे बढता जावेगा और भी अधिक बढनेकी अभिलाषा होती जावेगी नीचे आनेकी इच्छा कभी नहीं होसकती। वह महाप्रभु दयासागर ऐसा निर्दयी भी नहीं है, निर्व्वल नहीं है और उसके पास गिनतीके जीव भी नहीं हैं, कि जीवोंकी कमी होजानेके भयसे अपनी रचना वर्त्तमान रखनेकेलिये आनन्दके अनुभववालोंको नीचे धक्कादेकर गिरादियाकरे।

शंका— भगवान्ने जो यहां मुक्त जीवोंकी अपुनरावृत्ति कही

है इससे अनुभव होता है, कि इनसे इतर जीवोंकी पुनरावृत्ति भी होती है ?

समाधान— मुक्त प्राणियोंकी अर्थात् ब्राह्मनन्दमें प्राप्त होने वालोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती पर आर्त्त, अर्थार्थी और मुमुक्षुओंकी पुनरावृत्ति अपने-अपने नियमानुसार होती है। जैसे नमककी दो डलियां लेकर एकमें घृत लपेट कर और दूसरी डलीको बिना घृत लपेटे पानीमें डालदो तो घृत लपेटी हुई डली ज्योंकी त्यों फिर पानीसे बाहर निकल आवेगी और बिना घृत वाली डली पानीमें लय होजा-वेगी। इसी प्रकार जिस प्राणीके अन्तःकरणमें वासनाका घृत लिप-टाहुआ है वह फिर पुनरावृत्तिको प्राप्त होता है अर्थात स्वर्गादि लोकोंसे नीचे गिरता है पर मुक्त-जीव जो वासनारूप घृतसे रहित होगया है वह फिर लौटकर संसारमें नहीं आता ब्रह्मरूप जलमें लय होजाता है।

प्रश्न— तुमने जो लिखा, कि आजकलके बहुतेरे विद्वान मुक्त-जीवोंकी पुनरावृत्ति अर्थात मुक्तिसे लौटकर संसारदुःखमें फिर आना बताते हैं उनमेंसे किसीका नाम भी बतासकते हो ?

उत्तर— सुनो मैं आजकलके विद्वानोंमें बडे प्रसिद्ध विद्वान्का नाम बताता हूं— श्रीमतपरमहंस परिव्राजकाचार्य्य स्वामी दयानन्द जो वर्तमान आर्यमतके उत्पादक हैं अपने सम्वत् १६४८ के चौथेवार छपे हुए सत्यार्थप्रकाशकी १७-१८ वीं पंक्तिमें लिखते हैं, कि वे मुक्तजीव मुक्तिमें प्राप्तहोके ब्रह्ममें आनन्दको तबतक भोगके पुनः महाकल्पके पश्चात् मुक्तिसुखको छोडके संसारमें आते हैं। इस अपने लेखके प्रमाणमें

मुण्डकोपनिषत् (मुं० ३ खं० २ मं० ६) की श्रुतिका एक टुकडा " ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे " दिया है।

अब वेद, वेदान्त तथा शास्त्र पुराणोंके ज्ञाता समझसकते हैं, कि उनके इस अर्थको श्रुतिके यथार्थ अर्थसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अपने मनगढन्त अर्थ सिद्ध करनेकेलिये श्रुतिका एक टुकडा ही लेलिया है। अब विद्वानोंके विचारनेकेलिये सारी श्रुति लिखकर अर्थ किया-जाता है। श्रु०— " ॐ वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यास-योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ " जिसका भाष्य श्री शंकराचार्यने यों किया है— " किञ्च वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः परमात्मा विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। ते च सन्न्यासयोगात् सर्वकर्मपरित्यागलक्षणयोगात् केवल ब्रह्म-निष्ठास्वरूपात् यतयो यत्नशीलाः शुद्धसत्वाः शुद्धं सत्वं येषां सन्न्यासयोगात् ते शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु संसारिणां ये मरणकालास्ते परान्तास्तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देह-परित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन् परान्तकाले साधकानां बहु-त्वाद्ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवद्दृश्यते प्राप्यते वा। अतो बहुवचनं ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः। परामृताः परममृत मरण धर्मकं ब्रह्मात्मभूतं येषां ते परामृताः जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परा-मृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात् प्रदीपनिर्वाणवत् घटा-काशवच्च निवृत्तिमुपयान्ति। परिमुच्यन्ति परि समन्तात् मुच्य-न्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते।

अर्थ— वेदान्तज्ञानका अर्थ जो परमात्मा उसको निश्चयकरके जाननेवाले, सन्न्यासयोगमें यत्नकरनेवाले और शुद्ध अन्तःकरणवाले जीते ही ब्रह्मस्वरूप हो अर्थात् जीवन्मुक्त हो देह त्यागके समय जिस प्रकार दीप बुझकर आकाशमें लय होजाता है, एवम् घट टूटनेसे घटाकाश महाकाशमें लय होजाता है ऐसे वे परब्रह्ममें लय होजाते हैं ।

अब विद्वान विचारकरेंगे, कि इस स्वामीदयानन्दके अर्थसे यथार्थ अर्थ कितनी दूर है । मुक्तिसे लौट आनेका अर्थ स्वामी दयानन्दजीने न जाने कहांसे किया ।

मुक्तिसे लौटआनेके विषय तो कहीं किसी श्रुतिने कहा ही नहीं । श्रु०—" **न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते** " मुक्तिसे फिर लौटकर नहीं आता मुक्तिसे फिर लौटकर नहीं आता । (छा० प्र० ८ खं १५)

" अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् " अर्थ— जो देवयानमार्गद्वारा मुक्त होजाता है वह मुक्तिसे लौटकर नहीं आता । यहां दो बार कहकर सूत्रने इस अर्थको पूर्ण दृढ करदिया, कि मुक्त कभी भी लौटता ही नहीं । (वेदान्तद० अ० ४ पा० ४ सू० २२)

जब इन श्रुतियों और सूत्रोंपर हडताल फेरदियाजावे तब स्वामी दयानन्दजीकी पुनरावृत्ति (मुक्तिसे लौटकर आना) मानी जासक्ती है ।

स्वामीजीने तो अपने सत्यार्थप्रकाशमें इसी प्रकार बहुतेरे वेदवेदान्तोंके वचनोंको देकर उनके उलटे पुलटे अर्थ करके पुनरावृत्ति

मानली है। परे वे अर्थ कहांतक मानने योग्य हैं बुद्धिमान् लोग बिचार सकते हैं। बिस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखागया ॥ १७ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! जो प्राणी तद्बुद्धि, तदात्मा, तन्निष्ठ तथा तत्परायण हैं जिनके सब कल्मष दूर होगये हैं इसलिये जीवन्मुक्त हैं उनकी पहचान क्या है? सो कृपाकर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाकेच पण्डिताः समदर्शिनः ॥
॥ १८ ॥

पदच्छेदः— पण्डिताः (ज्ञानिनः । येषां ज्ञानेन नाशितमात्मनोऽज्ञानं ते । विषमेष्वपि समं ब्रह्मैव द्रष्टुं शीलं येषां ते) विद्याविनयसम्पन्ने (दैन्यवारणाय विद्यापदमौद्धत्यादिवारणाय विनयपदं ताभ्यां युक्ते । उत्तमसंस्कारवति सात्विके । वेदार्थविज्ञानेन प्रणत्या च परिपूर्णे) ब्राह्मणे, श्वपाके (शूनो यः पचति तस्मिन् श्वपाके चाण्डाले) गवि, हस्तिनि, च (तथा) शुनि (कुक्कुरे) समदर्शिनः (सर्वभूतेषु तुल्यदर्शनशीलाः। सममेकमविक्रियं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते) एव ॥ १८ ॥

पदार्थः— (पण्डिताः) जो ज्ञानी हैं वे (विद्याविनयसम्पन्ने) वेदादि अध्ययन कियेहुए और नम्रतासे परिपूर्ण ब्राह्मणमें (च) तथा (श्वपाके) चाण्डालमें (गवि) गायमें (हस्तिनि) हाथीमें (च) तथा (शुनि) कुत्तेमें (समदर्शिनः) एक समान दृष्टि रखने-

वाले होते हैं अर्थात् सब छोटे बडे पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादिमें ब्रह्मको एकसमान व्यापक देखते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह पूछा है, कि साधारण प्राणियोंसे अपुनरावृत्तिवाले जीवन्मुक्त प्राणियोंमें क्या विशेषता है? जिससे वे पहचाने जासकते हैं। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**पण्डिताः समदर्शिनः**] जो अपुनरावृत्तिवाले जीवन्मुक्त पण्डित हैं जिनकी अज्ञानताका अन्धकार ज्ञानके प्रकाशसे नाश होगया है वे समदर्शी होते हैं। अर्थात् सबमें उस ब्रह्मको एक समान व्यापक जानकर परमार्थदृष्टिसे सबको एक समान देखते हैं। अर्थात् जो प्राणी सब वेद शास्त्रोंका अध्ययनकर तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न दूरदर्शी और ज्ञानी हैं, जिनने निष्कामकर्म सम्पादनद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर आत्मज्ञानका लाभ किया है और इसी आत्मज्ञानद्वारा सर्वप्रकारके बन्धनोंसे छूट जीवन्मुक्ति प्राप्तकर अपुनरावृत्तिके अधिकारी होरहे हैं, जो राजा जनकके समान सम्पूर्ण व्यवहारोंको करतेहुए भी विदेह होरहे हैं, चाहे सन्यासी हों चाहे गृहस्थ हों पर जीवन्मुक्ति लाभ करचुके हैं उनकी पहचान यही है, कि वे सम्पूर्ण जगत्के जीवोंको एक समान देखते हैं। किन-किनको एक समान देखते हैं? सो भगवान् कहते हैं, कि [**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च**] अर्थात् वेदार्थज्ञान तथा नम्रतासे परिपूर्ण ब्राह्मणमें, नरकावह कर्मकरनेवाले चाण्डालमें, गाय, हाथी और कुत्तेमें समान दृष्टिवाले होते हैं। अर्थात् जो ब्राह्मण यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन करनेवाला है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, क्षमा, धृति, दया इत्या-

दिको स्वभावतः प्रतिपाल करनेवाला है और त्रिकाल-सन्ध्या, पितृ-श्राद्धादि नित्य नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला है तथा विनयसे ऐसा सम्पन्न है, कि जो कोई उसके सन्मुख आजाता है उससे विनय पूर्वक बातें करता है ऐसे ब्राह्मणमें और इसीके प्रतिकूल जो दिवा रात्रि जीवोंके मारडालनेमें तत्पर रेहनेवाला है मिथ्या, चोरी, जारी इत्यादि अशुभ कर्मोंका करनेवाला है ऐसे चांडालमें, जो समान दृष्टि रखनेवाला है वही "पंडित" समदर्शी है। तात्पर्य यह है, कि ज्ञानी जन परम पवित्र ब्राह्मणको और परम अपवित्र चांडालको एक समान देखते हैं । फिर गाय जो सत्वगुण प्रधान है अर्थात् सात्विकी जीव है, जिसके दूध, दधि, घृत इत्यादिसे यज्ञ सम्पादन होते हैं ऐसी सात्विक गायमें, युद्धादिमें काम आनेवाले तमोगुणी हस्तीमें तथा रजोगुणी कुत्तेमें जो समान दृष्टि रखते हैं वे ही पंडित और ज्ञानी हैं, जीवन्मुक्त हैं और अपुनरावृत्तिके अधिकारी हैं। क्योंकि वे आत्मतत्त्वको भली भांति जानते हैं ।

शंका— जब ऐसे समदर्शी सब प्राणियोंको एक भावसे देखते हैं तो क्या वे चांडालादिके साथ वैठकर भोजनादिका भी व्यवहार करसकते हैं? क्या गैया, हस्तिनी, और कुत्तीका दूध एक संग मिलाकर अपने काममें लासकते हैं? यदि ऐसा कर सकते हैं तो श्रुति स्मृतियोंने जो चार वर्ण और चार आश्रमोंका विलग-विलग धर्म वर्णन करने तथा स्पर्शास्पर्श का भिन्न-भिन्न विधान रखनेमें परिश्रम किया है वह निरर्थक ही समझा जावेगा । जब ऐसे श्रेष्ठ पुरुष ऐसा निन्दित आचरण करने लग जावेंगे तो साधारण पुरुष भी उनकी देखादेखी वैसे ही करने लगजावेंगे

फिर तो धर्मका कुछ विचार ही नहीं रहेगा । भगवानने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" (अध्याय ३ श्लोक २१) श्रेष्ठ-पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है उसीकी देखा देखी अन्य पुरुष भी वैसे ही करता है । इसलिये इस श्लोकका मुख्य अभिप्राय यदि यही है तो धर्ममें महा घोर आपत्तिके प्रवेश करनेका भय होता हैं ऐसा क्यों ?

समाधान— नारदका वचन है, कि—

"धर्म्मशास्त्रविरोधे तु युक्ति-युक्तो विधिः स्मृतः ।
व्यवहारोऽपि बलवान् धर्मस्तेना*ऽवहीयते ॥"

अर्थ— जहां धर्मशास्त्रोंमें विरोध हो तहां युक्ति ही विधि है क्योंकि व्यवहार बलवान् होता है इसलिये व्यवहारसे धर्मका निर्णय करते हैं । क्योंकि लौकिक विषय भी धर्मानुसार ही चलता है फिर बृहस्पति भी कहते हैं, कि "केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः । × युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते" ॥

अर्थ— केवल धर्मशास्त्रों ही का आश्रय लेकर किसी विषयका निर्णय नहीं करना चाहिये । ऐसा युक्तिहीन विचार करनेसे धर्मकी हानि होती है तथा लौकिक-कार्य भ्रष्ट होते हैं । जैसे नीचे वाले तीनों वर्णोंकी कन्यासे ब्राह्मण विवाह करसकता है यह शास्त्र-विहित है पर व्यवहारसे विरुद्ध है इसलिये इसका लोकमें प्रचार नहीं चला, रुकगया है। इसी प्रकार बहुतेरे व्यवहार ऐसे हैं जो अपने-अपने धर्म

* अवहीयते— अवगम्यते हि गतौ ।

× युक्तिर्व्यवहारः ।

कुल, देश, वय, वृत्त और वित्तके अनुसार कियेजाते हैं। कात्यायनका भी सूत्र है— " कुलशीलवयोवृत्तवित्तविद्भिरधिष्ठितम् " अर्थात् कुल, शील, वय, वृत्त इत्यादिका वित्तके अनुसार ही व्यवहार करनेसे धर्मकी स्थिती कहीगई है । श्रुतिका भी प्रमाण है, कि– " ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मशिर्न युक्ता अयुक्ता अलूक्षाः धर्मकामा स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। "

अर्थ– जब किसी संसृतव्यवहारकेलिये कुछ सीखना हो अर्थात् कर्म, धर्म, वृत्ति (जीविका) यज्ञादिका सम्पादन वा अन्य किसी प्रकारके व्यवहारोंका जानना अभीष्ट हो तो जैसे बडे-बडे विचारशील ब्राह्मण जो नाना प्रकारके कार्य्योंमें युक्त वा अयुक्त हैं अथवा सम्यक् प्रकारसे लगेहुए हैं और धर्म्मोंके सम्पादनमें अक्रूर बुद्धिवाले हैं वे जिस प्रकारसे आचरण करते हों वैसे तू भी आचरण कर !

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि संसारमें दो प्रकारकी दृष्टियोंसे कर्मोंका सम्पादन होता चलाआया है **व्यवहारदृष्टि** और **परमार्थदृष्टि** । जब तक मनुष्य प्रवृत्ति-मार्गमें वर्त्तमान होरहा है अर्थात् जबतक अपने समाजके साथ निवासकर पुत्र, कलत्र, बन्धु, बांधव, बिवाह, श्राद्धादिके व्यवहारोंमें लगाहुआ है तबतक उसे व्यवहारदृष्टिसे भी काम लेना चाहिये । क्योंकि समाजके नियम और व्यवहारदृष्टिका उल्लंघनकर केवल परमार्थदृष्टिसे देखना व्यवहारसाधनमें नाना प्रकारके क्लेश उत्पन्न करता है । इसलिये परमार्थदृष्टिसे सबको समान देखता हुआ व्यवहारदृष्टिसे धर्म्मोंका सम्पादन करतारहे । क्योंकि भगवान् (**समदर्शिनः**)

पद कहकर उपदेश करते हैं पर "समभोजिन:" वा "समवर्तिन:" ऐसा नहीं कहते । यदि समभोजिन: वा समवर्तिन: कहते तब तो सब कुजातियोंके साथ भोजन करना तथा गैया और कुत्तीके दूधमें समान वर्त्ताव करना उचित था। हां! यदि सब व्यवहारोंको छोड परमहंस-वृत्ति धारण करे तो चाण्डालके हाथका भी भोजन करलेने में हानि नहीं है । क्योंकि परमहंस तो शरीरकी सुधि ही नहीं रखता। "स्ववपु: कुणपमिव दृश्यते" परमहंस अपने शरीरको मृतक के समान देखता है। ऐसे परमहंसको "न शीतं न चोष्णम्" सर्दी गर्मीका भी भाव नहीं होता। तो ऐसेको परमार्थ दृष्टिसे वर्त्ताव करने में तनक भी हानि नहीं है। पर जो धूपसे वचनेके लिये तो सुन्दर छाता, शीतोष्णमें भिन्न-भिन्न वस्त्रादिकोंका व्यवहार, सलोने और फीकेका विचार कररहा है, शत्रु, मित्र तथा राग, द्वेषसे जिसका अन्त:करण मलीन होरहा है, वह यदि समाजके नियमोंका भंग करे तो कहीं भी उसका ठिकाना नहीं लगेगा। एक समाजके नियमको भंग कर दूसरे समाजमें जाजुटेगा तो उस दूसरे समाजके नियमका पालन करना पडेगा। क्योंकि पृथ्वी-मंडलमें जितने धर्म हैं तथा जितने समाज हैं सबोंमें उनके विशेष नियम बंधेहुये हैं। फिर व्यवहारस्थ प्राणी किसी भी समाजमें जापडेगा तो उसे किसी न किसी नियमसे बद्ध होना ही पडेगा।

पर बहुतेरे धूर्त्त केवल खानेकेलिये परमहंस बनजाते हैं। ऐसा नहीं चाहिये। सच्चा परमहंस जडभरत इत्यादि महानुभावोंके समान बनजाओ फिर विश्वके भूतमात्रसे समान बर्ताव रखो कुछ भी हानि नहीं है।

प्रिय पाठको ! इन दिनों सैकडों कपोल-कल्पित मत निकल-पडे हैं जो जाति-पांतिका कुछ भी विचार न करके भंगी चमारके साथ भोजनादिका व्यवहार रखते हैं जाति–कुजातिसे विवाह करलिया करते हैं इनके लिये तो सम्पूर्ण गीताशास्त्रमें यही श्लोक बडे ही सिद्धान्त का है । सुननेमें आता है, कि गीता-शास्त्र पृथ्वी-मण्डलके मनुष्य-मात्रका उपकारक है सो इस श्लोकके देखनेसे नवीन मन गढाहुआ कपोली मतवाले भी इस श्लोकको अपना सिद्धान्त मानते हैं पर उन के पास न इतनी बडी बुद्धि है न संस्कार है जिसके द्वारा इस श्लोक का मुख्य अभिप्राय समझसकें । मैं ईश्वरसे यही प्रार्थना करता हूं, कि वह इनकी बुद्धि इस श्लोकके मर्म समझने योग्य बनादेवे ।

समदर्शी होनेका तात्पर्य यह नहीं है, कि ब्राह्मण चांडालके साथ गैया और कुत्तेका दूध मिलाकर पीया करे, किन्तु समदर्शीका यह अर्थ है, कि सबको एक समान समझ कर सबपर समान दया रखे अर्थात् ब्राह्मण और चांडालका एक समान उपकार करे । यदि दोनों पर किसी प्रकारकी आपत्ति आनपहुंचे तो दोनोंको उस आपत्तिसे छुडानेके लिये समान पुरुषार्थ करे । गैया, हाथी, कुत्ता इत्यादि सम्पूर्ण ब्रह्मांडके जीवोंके दुःख सुखको समान जान सबोंकी एक समान रक्षा करे । यदि उससे बनपडे तो जिस प्रकार गैयाके खान पानका उद्योग कर गैयाको भूखी प्यासी नहीं छोडता इसी प्रकार गधयियों और कुत्तियोंको भी यथाशक्ति भूखी प्यासी न रहने देवे ।

महात्मा बामदेवजी महाराजकी बनी बनायी रोटियोंको एक दिन एक कुतिया लेभागी तो आप पीछेसे घृत लेकर दौडे और पुकारने लगे, कि

अरी रूखी सूखी रोटी कैसे खावेगी ? ले ये घृत भी लियेजा! इसीका नाम समदर्शन है । भगवानके समदर्शी कहनेका मुख्य अभिप्राय यही है । इससे सिद्ध होता है, कि जीवन्मुक्त और परमहंसोंके लिये इस श्लोकका व्यवहार परमार्थ दृष्टिसे करना है । व्यवहारमें रहनेवाले संसारी जीवोंके लिये यह नहीं है, क्योंकि उनको अपने सामाजिक विषयोंका पालन करना ही होगा ॥ १८ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जो लोग इस प्रकार समदर्शी हैं वे फिर व्यवहारोंमें रहसकते हैं वा नहीं ? यदि रहसकते हैं तो उनका निर्वाह कैसे होसकता है ? अन्तमें उनकी कैसी दशा होती है ?

इतना सुन भगवानबोले—

मू०—इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
॥ १६ ॥

पदच्छेदः— येषाम् (समदर्शिनाम्) मनः (अन्तःकरणम्) साम्ये (सर्वभूतेषु समभावे) स्थितम् (स्थिरीभूतम् । निश्चलीभूतम्) तैः (समदर्शिभिः) इह (जीवद्भिः) एव (निश्चयेन) सर्गः (द्वैतप्रपंच । जन्म मरणादिलक्षणः संसारः) जितः (अतिक्रान्तः । वशीकृतः) हि (यस्मात) ब्रह्म, निर्दोषम् (दोषरहितम्) समम् (सर्वत्रैकरूपम् । सर्वत्राविषमम्) तस्मात ते (समदर्शिनः) ब्रह्मणि (सर्व-

गुणदोषसम्बन्धवर्जिते सच्चिदानन्दस्वरूपे महेश्वरे अखण्डैकरसे) स्थिताः (एकीभावेन स्थिरीभूताः) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (**येषां**) जिन समदर्शियोंका (**मनः**) अन्तः-करण (**साम्ये**) सब भूतोंकी समतामें (**स्थितम्**) स्थिर होरहा है (**तैः**) तिनही समदर्शियोंसे (**इह एव**) निश्चय करके इसी जन्म में (**सर्गः**) यह संसार (**जितः**) जीताजाता है तथा (**हि**) जिस कारणसे (**ब्रह्म निर्दोषम्**) वह ब्रह्म जगदीश्वर निर्दोष है (**समम्**) और सब जाति कुजातिमें समान रूपसे वर्त्तमान है (**तस्मात्**) इसलिये (**ते**) वे समदर्शी पंडित भी ऐसे (**ब्रह्मणि**) ब्रह्ममें (**स्थिताः**) निश्चल-रूपसे निर्दोष होकर निवास करते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि व्यवहारमें सम-दर्शियोंका रहना हानिकारक है वा लाभ-कारक है ? तथा वे स्वयम् अपनी इच्छासे व्यवहारमें कैसे निर्वाह करसकते हैं ? और अन्तमें उनकी क्या दशा होती है ? इन प्रश्नोंका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**] जिन परमार्थदर्शियोंका मन समतामें स्थित है उन करके यहां ही इसी जन्ममें मानो संसार जीतागया है अर्थात् समदर्शियोंने इसी जन्ममें जीते जीते प्रपंचका उपशम करलिया है तथा संसारकल्मषको जीतलिया है । तात्पर्य यह है, कि ब्राह्मण और चांडाल, गऊ और व्याघ्र, मनुष्य और राक्षस, अमृत और विष, स्वर्ग और नरक अपने और पराये, लोहे और काञ्चन, साधु और असाधु इत्यादिमें जिसने समभाव

निश्चय कररखा है अर्थात् किसी दोषी पुरुषको देख घृणा नहीं करते, किसी निर्दोषीको देख स्पृहा नहीं करते, सबको सम भावसे देखते हैं और अपनी आयु वर्त्तमान रहते हुए इस द्वैत प्रपंचकी विषमताको सम करलिया है, इस लिये यह निश्चय है, कि जिसने इस प्रकार इस लोकमें संसारको और अपने जन्मको जीतलिया है उनके लिये परलोकमें तो सब कुछ बना ही बनाया है क्योंकि इन्द्रलोकादिमें अप्सरायें उनका क्या करसकती हैं ? तथा वैतरणी, कुम्भीपाक, रौरव इत्यादि नरक उनका क्या बिगाड सकते हैं ? कुछभी नहीं ।

तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि जो साधारण प्राणी गृहस्थाश्रममें निवासकरता है उसकेलिये भगवानका यह उपदेश नहीं है क्योंकि उससे संसारकी विषमता जीती नहीं जासकती। वह तो अवश्य क्षण-क्षण राग द्वेषके पल्ले पड मित्र शत्रुका भेद रखता ही है। इसलिये उसको तो गुण, दोष, शुद्ध, अशुद्धका पालन करनाही मङ्गलदायक है। यही साधारण व्यक्ति अपने विचारानुसार व्यवहारोंका सम्पादन करते करते जब निष्काम-कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर आत्मज्ञान लाभ करे और व्यवहारोंसे बिलग हो केवल तद्बुद्धि, तदात्मा और तन्निष्ठ होरहे तब उसे ब्राह्मण और चाण्डालमें समता प्राप्तहोगी और विषमताका नाश होगा, तब ही वह जीवन्मुक्त कहलावेगा । इसलिये अत्यन्त उच्च श्रेणीपर पहुंचेहुए अधिकारीकेलिये भगवान् इस समदर्शनका उपदेश कररहे हैं । संसारके जीतनेका तात्पर्य्य यह नहीं है, कि अपनी वीरतासे देश-देशान्तरोंको जीत चक्रवर्त्ती बनजावें वरु यहां संसार जीतनेका तात्पर्य्य यही है, कि प्रकृतिने जो रज, सत्व और

तम इन तीन गुणोंसे संसारी जीवोंको बांधरखा है, इन तीनों गुणोंकी विषमताको सम करडाले अर्थात् गुणोंका प्रभाव जीते-जीते अपने ऊपर न पडनेदेवे ।

अब भगवान् ऐसे प्राणियोंका परिणाम कहते हैं, कि [**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः**] ऐसे समदर्शी संसार-सागरके तरनेवाले सर्वदा ब्रह्महीमें स्थिर रहते हैं अर्थात् संसारमें रहतेहुए भी ब्रह्मभावको प्राप्तरहते हैं । क्योंकि ब्रह्म भी सर्वत्र सबठौर ब्राह्मण और चाण्डालमें एकरस व्यापरहा है फिरभी निर्दोष है ।

श्रुतिका बचन है, कि " **आकाशवत् सर्व्वगतः स नित्यः** " सो ब्रह्म आकाशवत् सबमें है और नित्य है । जैसे आकाश मद्यके घटमें भी है और गंगाजलके घटमें भी है तथा चाण्डालके गृहमें भी है और ब्राह्मणके गृहमें भी है क्योंकि सो आकाश नित्य है । इसी प्रकार ब्रह्म भी दोनोंमें व्यापक है । श्रु०— " **असंगो न हि सज्जते असंगो ह्ययं पुरुषः** "

अर्थ— वह ब्रह्म असंग है किसीके संग नहीं लिपटता ।

श्रु०— **सूर्य्योयथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः** " (कठो० अ० २ बल्ली० २ श्रु० १०)

अर्थ— जैसे सूर्य्य जो सबलोकोंका नेत्र है अपनी किरणोंद्वारा आकाशसे सबोंको देखताहुआ सबके रसोंको खींचता है पर किसी

दोषसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म भी सर्वत्र अपनी सत्तासे सबको प्रकाश कररहा है, सर्वत व्यापक है पर इनके गुण दोषोंसे सम्बन्ध नहीं रखता।

अब इसी विषयको स्थूल दृष्टान्तोंसे दिखलाते हैं— जैसे जल चाण्डाल और ब्राह्मणकी पिपासा समानरूपसे शान्त करता है, हवा दोनोंको एक प्रकार आनन्द देती है और आग दोनोंके शीतको समान-रूपसे निवारण करती है, इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र एक समान व्यापक है। इस लिये समदर्शी पुरुष भी सदा ब्रह्महीमें एकरस स्थिर रहता है। देखो! परमा-त्माने चाण्डाल और ब्राह्मण दोनोंकेलिये ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अन्त:-करण, पाचों प्राण, तथा रोम, चर्म, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा और वीर्य्य सप्त धातुओंको समान रूपसे प्रदान किया है तथा विराट्की सम्पूर्ण वस्तु-तस्तु सबोंके लिये समानरूपसे दुःख सुखकी देनेवाली हैं। जैसे कामसुख इन्द्रसे लेकर शूकर पर्यन्त समान-रूपसे सुखदायी है पर जीवों को अपने इष्ट और अनिष्टके कारण विषमता देखपडती है। सो विषमता केवल अज्ञानियोंकी ही दृष्टिमें है। क्योंकि वह अनात्मामें आत्मा देखता है पर ज्ञानीकी दृष्टिमें कहीं भी विषमता नहीं है। ज्ञानी सदा निर्दोष और समदृष्टिवाला है इसी कारणसे उस ब्रह्ममें समदर्शी पंडित स्थित है।

समदर्शियोंके ब्रह्मसुखमें स्थितहोनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि फिर उनको अपनी जीवन्मुक्तिकी प्राप्तिके निमित्त किसी प्रकारके पार-लौकिक साधनकी आवश्यकता नहीं रहती न किसी प्रकारके प्रतिब-

न्धके दूर करनेकी ही चिन्ता रहती है । क्योंकि वह सदा आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें मग्न रहनेके कारण किसी देवदेवीके उपद्रवोंका भयही नहीं रखता ॥ १९ ॥

ईसी समताको दृढ करनेके लिये भगवान आगे फिर
समबुद्धिवालेका लक्षण कहते हैं—

मू०— न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २०

पदच्छेदः— प्रियम् (अनुकूलम् । इष्टम्पुत्रकलत्रादिकम्) प्राप्य (अवाप्य) न (नहि) प्रहृष्येत (हर्षितो भवति । प्रसन्नतां गच्छति) च (तथा) अप्रियम् (स्वप्रतिकूलम् । चौरचांडालाद्यनिष्टम्) प्राप्य (उपलभ्य) न (नैव) उद्विजेत (उद्वेगं गच्छति) स्थिरबुद्धिः (श्रुतियुक्तिभ्यां सर्वभूतसमत्वे स्थिरा बुद्धिर्यस्य सः । स्थितप्रज्ञो वा) असंमूढः (संशयमूलभूतेन संमोहेन रहितः । निवृत्तमोहः) ब्रह्मवित् (ब्रह्मसाक्षात्कारवान) ब्रह्मणि स्थितः (ब्रह्मैक्यंगतः । सर्वविक्षेपकारणं परित्यज्य निर्दोषे समे ब्रह्मण्येव स्थितः) ॥ २० ॥

पदार्थः— (प्रियम्) जो प्राणी अपनी इच्छानुकूल पुत्र कलत्रादिको (प्राप्य) प्राप्त करके (न प्रहृष्येत) हर्षको नहीं प्राप्त होता है तथा (अप्रियम्) अपने अनिष्ट जो शत्रु इत्यादि हैं तिनको (प्राप्य) पाकरके (न उद्विजेत) उद्वेगको नहीं प्राप्त होता वही (ब्रह्मणि स्थितः) सर्व प्रकारके विक्षेपोंका कारण त्याग करके

उस ब्रह्ममें सदा स्थित है तथा वही (ब्रह्मविद्) ब्रह्मको साक्षात्कार करचुका है इसी कारण (स्थिरबुद्धिः) वह सदा स्थिर-बुद्धि है वही (असम्मूढः) संशय, विपरीत इत्यादि मोहके कारणोंसे भी रहित होरहा है ॥ २० ॥

भावार्थः— अब श्री जगत्-हितकारी कुञ्जविहारी अर्जुनसे कहते हैं, कि [न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्] जो प्राणी प्रिय वस्तुको प्राप्त कर हर्षित नहीं होता और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे उद्विग्न नहीं होता वही ब्रह्ममें स्थित है। जैसे कांजीके सीकरोंसे क्षीर-सागर नहीं फटता, सहस्रों नदियोंके मिलनेसे भी समुद्र अपनी स्थिरताको नहीं छोडता। ऐसे चक्रवर्तीका विभव पाकर भी जो हर्षित नहीं होता चार दिनकी चांदनी समझता है। इसी प्रकार जो अप्रिय वस्तुके समीप आनेसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् कितने भी शत्रु उसे चारों ओरसे घेर क्यों न लेवें, कितनी भी आपत्तियां उसके ऊपर क्यों न आजावें पर महाराज हरिश्चन्द्रके समान तथा भक्त प्रह्लादके समान जो खड्गके नीचे गर्दन आनेसे भी ब्रह्मभावका परित्याग नहीं करता, यथार्थ समदर्शी होकर सुख और दुःख दोनोंको ब्रह्ममय जानकर समान दृष्टिसे देखता है और सदा एकरस ब्रह्मानन्दमें चिपटा हुआ ब्रह्मस्वरूप ही होरहा है वही ब्रह्ममें स्थित है। यथा श्रु०— " इन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनम् कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्या मनोरमम् " (मैत्रायण्युपनिषद् प्र० ४ श्रु० २)

अर्थ— इन्द्रजालके समान मायामय, स्वप्नके गन्धर्व नगरके समान मिथ्या, कदलीके स्तम्भके समान साररहित और नटके समान क्षण-मात्रके लिये विचित्र होने पर भी मनोरम है अर्थात् है तो कुछ नहीं पर देखने मात्र अत्यन्त सुन्दर मनोहर स्वरूप भासता है ऐसे संसार सुखको पाकर ज्ञानी हर्षित नहीं होता। क्योंकि वह जानता है, कि जिस स्त्री, पुत्रकी सुन्दरताईपर अज्ञानी मोहित होता है वे केवल अपवित्र मांसके पिण्ड हैं। यथा मनुः—

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥

(मनु० अ० ६ श्लो० ७६, ७७)

अर्थ— सुन्दर स्त्री-पुत्रके शरीर यथार्थमें सुन्दर नहीं हैं महा कुरूप घोर नरक हैं। जैसे मिट्टीकी मूर्ति बेचनेवाले एक काष्ठके दण्डमें घास-फूस बांधकर मिट्टी लपेटकर ऊपरसे चिकनाई देकर चिकनी चुल-बुली मनोहरमूर्त्ति बना हाटमें बेचते हैं और बच्चे उसे देखकर मोहित हो रुपये व्ययकर खेलनेकेलिये लेआते हैं। इसी प्रकार जिस शरीरको अज्ञानी सुन्दर समझरहे हैं सो केवल एक मोटी हड्डीके खम्भमें शिरा और नाडियोंसे बांधकर मांस और रुधिरकी चिकनाईसे लपेट, चमडेसे ढककर, मूत्र और मलकी दुर्गन्धसे पूर्ण, वृद्धता और शोकसे घिराहुआ ३६ सहस्र रोगोंका घर, क्षुधा-तृष्णासे सदा आतुर, रजोगुणसे संयुक्त

और अनिल पृथ्वी इत्यादि पांचों भूतोंका जो घर बनाहुआ है तिसे ज्ञानी त्यागदेवे । इसे अपना परमप्रिय समझ हर्षित न होवे । जो ऐसा ज्ञानी है वही प्राणी [**स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि-स्थितः**] स्थिरबुद्धि है, असंमूढ है, ब्रह्मविद् है और ब्रह्ममें स्थित है, ब्रह्मको छोड किसी अन्य पदार्थमें स्नेह नहीं रखता, सर्व विषय-सुखोंको त्याग ब्रह्मस्वरूपमें स्थित होजाता है क्योंकि ब्रह्मसुख प्राणीका अपना सुख है, विषयसुख अपना नहीं है क्योंकि अन्तमें संग छोडदेता है । जब प्राणी बृद्धहोता है इन्द्रियां निर्व्वल पडती जाती हैं तब विषयसुख स्वयं परित्याग करता जाता है । अज्ञानी पुरुष तो अपने अन्तःकरणसे परित्याग नहीं करता पर क्या करे इन्द्रियोंकी निर्व्वलतासे विषयसुख भोगनेको समर्थ नहीं होता हाथ मल-मल पछताता है । ऐसे अज्ञानीकी दुर्दशा होती है क्योंकि इधर विषयसुख हाथसे चलाजाता है और उधर ब्रह्म सुखसे भी वञ्चित रहता है। दोनों हाथोंसे रीता चलाजाता है । इसलिये जिसने ब्रह्मसुखमें स्थिति प्राप्त की है वही " **ब्रह्मणि स्थितः** " कह-लाता है ।

तहां यह शंका होती है, कि जबतक प्राणी ब्रह्मसुखका अनुभव नहीं करेगा तबतक उसकी स्थिति ब्रह्ममें कैसे होसकती है ? इसलिये भगवान् कहते हैं, कि " **ब्रह्मविद्** " वही प्राणी ब्रह्ममें स्थित होगा जो ब्रह्मवेत्ता है, जिसने श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा ज्ञानकी + सातों भूमिकाओंको प्राप्तकर ब्रह्मका साक्षात्कार किया है । इसलिये

+ सप्तभूमिका देखो अ० ३ श्लो० १८

जो ब्रह्मविद् है अर्थात ब्रह्मको पहचानता है वही " ब्रह्मणि स्थितः " कहाजावेगा। जैसे घासकी झोंपडीमें रहनेवाला अपना घर पहचानता है नगरमें बड़े-बड़े महलोंको परित्याग करताहुआ अपने घरके सम्मुख आ झट घुसकर स्थित होता है। ऐसे ही ब्रह्मविद् विषयके बडे-बडे स्वर्गादि सुखोंको त्यागकर अपने शान्तस्वरूप ब्रह्मसुखमें प्रवेश करजाता है। पर जो चञ्चल स्वभाववाला हो तो किसीन किसी कारणसे उसकी स्थिरता अवश्य नष्ट होही जावेगी। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि "स्थिरबुद्धिः" जिसकी बुद्धि स्थिरहो, चंचल न हो अर्थात् जिसे "*नैष्ठिकीशान्ति" प्राप्त हो उसीकी स्थिति अवश्य ब्रह्ममें नित्य रहेगी क्योंकि जिस प्राणीको यह नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त है वही ब्रह्मसुखके रसमें डूबा रहता है।

बुद्धिमान् विचारसकते हैं, कि जिसके बिम्ब विषयरसमें इतना सुख है, कि प्राणी अचेत हो विदेह होजाता है उसके मुख्य रसमें अर्थात् ब्रह्मरसमें कितनासुख होगा। इसलिये यह सिद्ध हुआ, कि जो स्थिरबुद्धि होगा वही ब्रह्मविद् होगा और जो ब्रह्मविद् होगा वही ब्रह्ममें नित्य स्थित होगा ॥ २० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! मायाकृत विषय-सुख तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है पर ब्रह्म-सुखका अनुभव तो प्राणियोंको होता ही नहीं। फिर प्रत्यक्ष सुखको छोड अप्रत्यक्ष सुखकी ओर जाना तो बाधित न्याय है। क्योंकि सो ब्रह्मसुख कहीं है वा नहीं इसका कैसे विश्वास हो ?

* नैष्ठिकीशान्तिका वर्णन इस अध्यायके श्लो० १२ में देखो।

इतना सुन श्यामसुन्दर मुसकराकर गंभीर वचनोंसे बोले—

मू०— बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

पदच्छेदः— बाह्यस्पर्शेषु (बहिर्भवा बाह्याः स्पर्शा विषयेन्द्रिय सम्बन्धास्तेषु) असक्तात्मा (अनासक्तचित्तः । निस्पृहं चित्तं यस्य सः) आत्मनि (अन्तःकरणे) यत्, सुखम् (नित्यानंदम्) विन्दति (लभते) [यतः] सः (तृष्णाशून्यः पुरुषः) ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्मणि योगः समाधिस्तेन युक्तः समाहितः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः) अक्षय्यम् (अनन्तम् । विनाशरहितम्) सुखम् (परमानन्दम्) अश्नुते (प्राप्नोति) ॥ २१ ॥

पदार्थः— (बाह्यस्पर्शेषु) रूप, रस, गन्धादि जो इन्द्रियोंके विषय हैं तिनमें (असक्तात्मा) जिसका चित्त आसक्त नहीं है सो प्राणी (आत्मनि) अपने अन्तःकरणमें (यत्सुखम्) जिस सुखको (विन्दति) लाभ करता है तिस सुखके पश्चात् (सः) सो ही (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) ब्रह्मयोगमें स्थित आत्मावाला (अक्षय्यम) अनन्त अविनाशी (सुखम्) सुखको (अश्नुते) प्राप्त करता है अर्थात् जैसे विषयी विषय-सुखका अनुभव करता है इसी प्रकार ब्रह्मवित् अविनाशी ब्रह्म-सुखका अनुभव करता है । विषयी ब्रह्मसुखका अनुभव नहीं कर सकता ॥ २१ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो शंका की है, कि जिस विषय-सुखको

प्रत्यक्ष देख रहे हैं, जिसमें जन्म-जन्मान्तरसे गाढी प्रीति लगरही है तिसे छोड ब्रह्म-सुखमें, जो प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं देखाजाता, मनका लगना कैसे सम्भव होसकता है ? प्राणियोंका स्वभाव है, कि जबतक किसी उत्तम सुखको नहीं देखता तब तक अपने प्राप्तसुखको जो उसे प्रारब्धानुसार प्राप्त है नहीं छोडता। फिर यह प्राणी इतने दिनोंके अभ्यस्त सात्म्य-विषय सुखको केवल सुने-सुनाये ब्रह्मसुखके लिये कैसे त्यागसकता है ? इसका उत्तर देतेहुये आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [**वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्**] जो प्राणी रूप, रस, गन्धादि वाह्य इन्द्रियोंके विषयों में आसक्त चित्त नहीं है अर्थात् जिसने विषयोंका सुख परित्याग किया है सो प्राणी तिस अपूर्व्व सुखको आत्मामें लाभ करता है उसका कहनाही क्या है ? वह धन्य है। हे अर्जुन ! तूने जो यह कहा, कि विषय सुख प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जन्म-जन्मान्तरसे जीवको इस विषय-सुखके भोगनेका अभ्यास पडा हुआ है, सो तेरा कहना यथार्थ है, पर उसीके साथ तू यह भी कहसकता है, कि इन विषय-सुखोंको आगमापायी, क्षणिक और परिणाममें दुःखदायी जाननेका भी तो अभ्यास इस जीवको पडाहुआ है। सो पशुपक्षी पतंगादि तिर्य्यक्-योनियोंकी समझमें न आवे तो न आवे, "क्योंकि परमात्माने उनकी रचनामें सम्यक्बुद्धि नहीं दी है" पर मनुष्यकी समझमें तो अवश्य आना चाहिये। क्योंकि उस दयासागर महाँ प्रभुने इनको तो सम्यक्बुद्धि अवश्य प्रदानकी है जिसके द्वारा ये बुरा-भला समझ सकेते हैं। यदि तू किसी विद्वान अर्थात् सम्यग्-बुद्धि वालेसे पूछेगा

तो वह अपने मुखसे अवश्य कहदेगा, कि ये विषय-सुख आगमापायी और अन्तमें दुःखदायी हैं । इसलिये जो इनमें अनासक्तचित्त है वह धन्य है ।

यदि कोई ऐसा कहे, कि जब मनुष्य इनको क्षणिक और दुःखदायी जानता है तो इसमें लिपटा क्यों रहता है ? तो उत्तर यह है, कि ये इन्द्रियां बलवान् हैं जो मनको अपना अग्रगामी बनाकर विषयकी ओर दौडती हैं । मनके साथ-साथ बुद्धि है सो इस मनको रोकती तो अवश्य है पर बेचारी क्या करे ? क्योंकि यह तो अकेली पडजाती है और मन अपनी सेना (दसों इन्द्रियां और पांचों प्राण) लेकर विषयकी ओर जाता है इसलिये बुद्धि लज्जित होजाती है । इनहीं बातोंको भगवान्ने पहले भी कहा है, कि "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः" (अ० २ श्लो० ६०) इन्द्रियां बलवती हैं इसलिये बुद्धिको धक्का देकर मनको बलात्कार अपनी ओर खींच अपने आगे-आगे लेचलती हैं ।

बुद्धिमान तो सदा आरम्भ और परिणामको विचारकर कार्य्य कियाकरते हैं । जिस कर्मका आरम्भ सुहावना और मनोहर हो पर परिणाम दुःखदायी हो तो बुद्धिमान उसके समीप नहीं जाते । पर जो आरम्भमें दुःखदायी और अन्तमें सुखदायी हो तो बुद्धिमान उस ओर जानेसे आलस्य नहीं करते इसलिये इस बुद्धिको मनपर प्रबल होनेके लिये कैसे अपनी सेना बनानी चाहिये सो यत्न बतायाजाता है—

श्यामसुन्दर पहलेही कहआये हैं, कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" (अ० ४ श्लो० ३४) अर्थात महानुभावोंकी

शरण जा दण्डके समान गिरकर सेवा करके प्रश्नद्वारा तत्त्वका अन्वेषण करे । श्रु०— " तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम् " (मुं० १ खं २ श्रु० १२)

अर्थ— तिस ब्रह्मसुखकी प्राप्ति निमित्त हाथमें समिधालेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण जावे । उसकी सेवाद्वारा प्रसन्न होकर शिष्यकी बुद्धिकी सहायता करनेवाली सेना, तिसमें बडे-बडे बलवान सेनापति हैं साथ करदेवेंगे जिसके द्वारा बुद्धि मनको जीतलेवेगी । तिस बुद्धिकी सेनामें कितने वीर हैं सो दिखलायेजाते हैं १ नित्यानित्य वस्तुविवेक । २ वैराग्य । ३ षट्सम्पति । ४ मुमुक्षुता । ५ श्रवण । ६ मनन । ७ निदिध्यासन । फिर पांचों यमके और पांचों नियमके प्रबल अङ्ग तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि । जब यह प्रबल सेना मनके सम्मुख पहुंचेगी तब मनका इन्द्रियोंके सहित कहीं भी पता नहीं लगेगा । तात्पर्य्य यह है, कि बुद्धि प्रबल होनेसे विषयोंसे घृणा उत्पन्न होती चलीजावेगी । इनकी आसक्ति जातीरहेगी । जब एवम् प्रकार प्राणीकी बुद्धि विषयोंसे निरासक्त होजावेगी तब विचारने लगजावेगी, कि यह सुख कहांसे आरहा है ? फिर तो ऐसा विचारते—विचारते उसकी दृष्टि ब्रह्मानन्द पर अवश्य ही किसीन-किसी दिन पडेही गी । जैसे सूर्य्यका बिम्ब किसी जलभरे घटमें पडता है फिर उस घटसे थोडा प्रकाश निकलकर किसी भीतपर पडजाता है । जब मनुष्यकी दृष्टि भीतकी मन्द—मन्द ज्योतिपर पडती है तब वह इधर-उधर दृष्टिपात करनेसे घटकी ओर जलमें सूर्य्यका बिम्ब देखता है । फिर सूर्य्यकी ओर देखकर जानता है, कि

भीतवाला प्रकाश सूर्य्यके बिम्बका भी बिम्ब है। इसी प्रकार गुरुद्वारा जब अधिकारीकी दृष्टि विषयानन्दको देखते—देखते ब्रह्मानन्दपर पडेगी तब उसकी समझमें आवेगा, कि यह विषयसुख उसी ब्रह्मसुखका बिम्ब-मात्र है। फिर वह बिम्बको नश्वर जान मुख्य-सुख जो ब्रह्मसुख तिसे ग्रहण करनेकी इच्छाकरेगा। इसी बातको श्यामसुन्दर इस श्लोकमें कहरहे हैं, कि विषयोंसे निरासक्त प्राणी जिस सुखको अपने अन्तःकरणमें अनुभव करता है वही ब्रह्मसुख है। इसलिये भगवान् यहां कहते हैं, कि [स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते] सो जो ब्रह्मयोग-युक्तात्मा है वही अक्षय ब्रह्मसुखको प्राप्तकरता है। फिर तो भ्रमर जैसे कमलके मकरन्द पानकरते समय कमलसे चिपटजाता है तैसे प्राणी ब्रह्माकारवृत्तिमें चिपटजाता है क्योंकि वह अक्षय-सुखको लाभकरता है। यथा

इसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी विषयानन्दसे आसक्तिरहित है वही परमानन्द तक पहुंचता है। अर्थात् जो ब्रह्मसे युक्त होता है किसी प्रकारकी कामना नहीं रखता, उसीको इस परमानन्द अक्षय-सुखकी प्राप्ति होती है। यथा श्रुतिः—

" श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य " (छा० अनु० ८ श्रु० ३२)

जिस श्रोत्रियने कामनाओंको परित्याग करदिया है उसी परमधन्यका यह परमानन्द है। इस विषयपर देखो हंसनाद प्रथम भाग वक्तृता चौथी जहां नाना प्रकारके आनन्दोंकी मीमांसा करतेहुए एक आनन्दसे दूसरे आनन्दको शतगुण अधिक दिखलातेहुए ब्रह्म-सुखका स्वरूप कथन कियागया है। तहां मानुषी-आनन्दसे सहस्रोंगुण अधिक ब्रह्माका

आनन्द दिखलायागया है। सो ब्रह्माका आनन्द उस परमानन्द ब्रह्म-सुखकी अपेक्षा एक बिन्दुमें कहीं पडाहुआ है। जैसे समुद्रके सामने एक बूंद जल अत्यन्त लघु समझा जाता है इसी प्रकार परमानन्दरूप आनन्दसागरके सामने ब्रह्माका आनन्द भी एक बिन्दुमात्र छोटा समझा-जाता है। इसी कारण जो प्राणी मानुषीआनन्दको लेकर ब्रह्माके आनन्दतक नश्वर समझ परित्याग करता है उसे परमानन्द अवश्य प्राप्त होता है। सो ही अक्षयसुख है जिसे भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं। तथा श्रुति भी ऐसे पुरुषकी स्तुति करती हुई कहती है, कि "ॐ कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्" (का० ब०२ श्रु० ११)

अर्थ— जिस अधिकारीमें कामनाकी समाप्ति होगई है, जो जगत्की प्रतिष्ठा है अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिककी प्रतिष्ठा है। क्योंकि भगवान्ने भी उसे "सर्वभूतात्मभूतात्मा" कहा है (देखो श्लो० ७) वही प्राणी "क्रतोरानन्त्यम्" जिसके हिरण्यगर्भका आनन्द एक कणिकामात्र है तिसका अनुभव करनेवाला अभयसे पूर्ण है अर्थात् निर्भय है तिसी प्राणीकी सर्वत्र स्तुति है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब प्राणी एक आनन्दसे दूसरे आनन्दको महान् देखता है तब धीरे-धीरे त्यागता हुआ परमानन्दको पहुंचता है। जैसे कोई प्राणी काचको फैंक हीरा ग्रहण करता है, ऐसे ही ज्ञानी विषय-सुखको त्याग ब्रह्म-सुखको ग्रहण करता है।

सो ब्रह्मसुख यद्यपि विषयियोंकी दृष्टिमें नहीं है पर है अवश्य ! जैसे पांच सात वर्षके सहस्रों छोटे-छोटे बालकोंका एक नगर बसालो तो प्रत्यक्ष देखनेमें आवेगा, कि वे बालक बालक्रीडाके आनन्दको छोड स्त्रीसुखके आनन्दको कुछभी नहीं जानते । यदि कोई स्त्रीसुखका वर्णन उनके सम्मुख करे भी तो वे अवश्य यही कहेंगे, कि हमलोगोंकी बालक्रीडाका सुख प्रत्यक्ष है इससे इतर स्त्रीसुख कुछ है ही नहीं। पर जब वे ही बालक युवा अवस्थाको प्राप्त होंगे तब विवाह होनेके पश्चात् स्त्रियोंके साथ सम्परिष्वक्त होनेका आनन्द अनुभव करने लगजावेंगे। इसी प्रकार जबतक अज्ञानी जन बालकोंके सदृश विषय-क्रीडाके आनन्दमें मग्न हैं तबतक उन्हें ब्रह्मसुखका अनुभव नहीं होसकता। पर जब ब्रह्मविद्याकी युवा अवस्था उनपर आवेगी तब वे ब्रह्मानन्दके साथ सम्परिष्वक्त होकर अक्षयसुख लाभ करेंगे। यह निश्चय है और अटल सिद्धान्त है।

इसलिये ऐसा कहना, कि " ब्रह्मसुख कहीं है ही नहीं अर्थात् अप्रत्यक्ष है अथवा ब्रह्मसुखका अनुभव किसीको लाभ हो ही नहीं सकता " ठीक नहीं वरु धीरे-धीरे गुरूपदेश द्वारा अभ्यास करते-करते अज्ञानतारूप बचपनको अपने हृदयसे हटादो अर्थात् सर्वप्रकारके प्रपंचोंसे अपने अन्तःकरणको स्वच्छ करलो, संसार-सुखका लेशमात्र भी उसमें न रहने दो तो जैसे कीचके धोदेनेसे हीरा प्रकट होजाता है ऐसे संसृतसुख धोदेनेसे ब्रह्मसुख अपने आप प्रकट होजावेगा ॥ २१ ॥

अब भगवान् अर्जुनको अगले श्लोकमें यह निश्चय करारहे हैं, कि विषय-सुख परम दुःखदायी है इसलिये त्यागने ही योग्य है ।

इसलिये भगवान बोले अर्जुन! सुन—

मू०— ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

पदच्छेदः—कौन्तेय ! (भो कुन्तीपुत्र अर्जुन !) हि (यस्मात्) ये, संस्पर्शजाः (विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यो जाताः) भोगाः (सुखानि) ते, दुःखयोनयः (दुःखहेतवः) एव (तथा) आद्यन्तवन्तः (आदिर्विषयेन्द्रियसंयोगो भोगानामन्तश्च तौ विद्येते येषां ते) [तस्मात्] बुधः (तत्त्वविद्विवेकी) तेषु (विषयभोगेषु) न (नैव) रमते (प्रीतिमानुभवति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (हि) जिस कारणसे (ये) जो (संस्पर्शजाः) विषयके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श होनेसे (भोगाः) भोगोंके सुख उत्पन्न होते हैं (ते) वे सब सुख (दुःखयोनयः) दुःखके कारण हैं तथा (आद्यन्तवन्तः) आदि और अन्तवाले हैं अर्थात जिनका आरम्भ होकर अन्त होजाता है इसलिये (बुधः) तत्त्वोंके प्रत्यक्ष देखनेवाले ज्ञानी पुरुष (तेषु) इन विषयभोगोंमें (न) नहीं (रमते) प्रीति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः—अब श्री गोलोक-बिहारी भोगोंसे उपराम करानेके तात्पर्य्यसे विषय भोगोंको विकारवान बतलाते हुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि यह सिद्धान्त है और सभी जानते ह कि [ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते] विषयोंका स्पर्श इन्द्रियोंके साथ होनेसे

जितने सुख उत्पन्न होते हैं वे सब दुःखोंहीके कारण हैं। जितने बुद्धिमान विद्वान, शास्त्रज्ञ, तत्त्वज्ञानी और विचारशील हैं उन सबोंने अभ्याससे ऐसा सिद्ध करलिया है, कि जितने संसृत-सुख हैं सब दुःखहीको उत्पन्न करनेवाले हैं। इसी कारण श्रुतिने भी इस विषयभोगकी निन्दा ही की है। यथा श्रु०— " महोरगदष्ट इव विषयदष्टं महान्धकारमिव रागान्धम् "
(मैत्र्युपनिषत् प्रपा० ४ श्रु० २)

अर्थ— महा विषधर सर्पके डसे हुएके समान इस विषय-रूप सर्पका डसा हुआ नाशको प्राप्त होता है। और जैसे महा घोर अँधियाली रात्रिमें चलने वाला मार्गके खड्डोंमें गिरकर दुःख पाता है ऐसे इस विषयसे राग करने वाला अन्धेके समान नाना प्रकारके संसृत-दुःख-रूप खड्डोंमें गिरकर क्लेश पाता है। इसलिये यह विषय भोग अवश्य दुखदायी हैं। लो और सुनो! श्रु० " श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणांजरयन्ति तेजः " (कठो० अ० १ बल्ली १ श्रुति २६) ॥

अर्थ— नाचिकेता अपने पिता यमसे कहता है, कि हे प्राणियोंके नाश करनेवाले! ये जो विषय भोग हैं कल तक भी मेरे समीप रहेंगे वा नहीं इसकी भी आशा नहीं है। यह निश्चय है, कि ये सब विषयभोग इन्द्रियोंके तेजको नाश करदेते हैं। इन भोगोंके ही अधिक भोगनेसे जरा और मृत्यु दोनों खानेके लिये मुख फाडकर दौडती हैं। इसलिये " न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः " इस श्रुतिके वचनानुसार वित्तादि भोगोंके पदार्थसे मनुष्य तृप्त नहीं होसकता। इसी प्रकार इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्तके भोग भी दुख दायी हैं।

शंका— इस लोकमें तो जरा, मृत्यु इत्यादिका भय है इसलिये ये विषय दुःखदायी कहेजाते हैं पर स्वर्गमें तो जरा, मृत्यु इत्यादिका भय नहीं है इसलिये अप्सरा इत्यादिके संग भोग-विलास करनेमें क्या हानि है ? यथा— न रोगो न जरामृत्यू न शोको न हिमादयः। न तत्र क्षुत्पिपासा च कस्य ग्लानिर्न दृश्यते (पद्मपुराण भूखंड अध्याय ८ में देखो) अर्थ— स्वर्गमें न रोग है, न वृद्धता आती है, न मृत्यु होती है, न वहां हिमसे गलनेका भय है तथा न वहां क्षुधा है, न पिपासा है। किसी प्रकारकी भी ग्लानि नहीं है फिर स्वर्गके सुख भोगमें क्या भय है ? और जब स्वर्गमें ही इन दुःखोंका अभाव है तो बृहस्पति-लोक प्रजापतिलोक इत्यादि लोकोंके सुख तो और भी अधिक चिरस्थायी हैं। फिर तुम्हारी श्रुतियां बार-बार ऐसा क्यों कहती हैं, कि ब्रह्म-लोक पर्यन्तके सुख दुःखदायी हैं ?

समाधान— इन लोकोंके भोग भी आदि और अन्त वाले हैं इसी प्रकार स्वर्गादि लोकोंमेंभी जब तक पुण्य कर्मोंके फलोंका उदय रहता है तब तक अप्सरादिके भोगका अवकाश मिलता है। पुण्योंके क्षीण होते ही प्राणी इस मृत्युलोकमें ऐसे गिरते हैं जैसे ताल-वृक्षसे ताल-फल टूटकर गिरता है। श्रु०— " नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति " (मुं० १ खं० २ मं० १०)॥

अर्थ— पुण्य-कर्मके करने वाले स्वर्गकी पीठपर चढकर पुण्यफल भोगकर फिर इस लोकमें मनुष्य अथवा मनुष्यसे भी हीन गर्दभ, शूकर, कूकर इत्यादि योनियोंमें आगिरते हैं। इसलिये सब लोकों

के सुख आगमापायी होनेके कारण दुःखदायी हैं। क्योंकि ब्रह्म-लोक तकके सुखका भी अन्त आज अथवा कल हो ही जाता है।

दूसरा दुःख स्वर्गमें भी विशेष कर यह है, कि " असन्तोषश्च भवति दृष्ट्वा दीप्तां परश्रियम् " (पद्मपुराण अ० ६) एकको दूसरेकी बढी-चढी सम्पत्ति देखकर असन्तोष वा ईर्षाका दुःख उत्पन्न होता है। इसलिये इन लोकोंके भोग भी आद्यन्तवान ही नहीं हुए वरु दुःखदायी भी हुए। बुद्धिमान् इस बातको नहीं देखेगा, कि मानुषी भोगसे स्वर्गादिके भोग कुछ काल तक स्थिर रहनेवाले हैं। कालकी अपेक्षासे स्वर्गलोकादिके रहने वाले अधिक सुखी हों तो हों पर परमार्थदृष्टि द्वारा देखनेसे कभी न कभी तो उनकी भी समाप्ति हो ही जाती है। इसलिये विवेकियोंकी दृष्टिमें सब लोक-लोकान्तरोंके भोग आगमापायी हैं, इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः] हे अर्जुन ! ये सुख आदि और अन्त वाले हैं इसलिये इनको दुःखदायी जानकर विवेकी तत्त्वदर्शी इन में नहीं रमता है। जो बालबुद्धि है जिसको ज्ञान नहीं है वह इस की अभिलाषा करता है। जैसे बच्चे अज्ञानताके कारण सर्पको पकडनेके लिये दौडते हैं इसी प्रकार जो मूढ हैं वे विषय-सुखके ग्रहण करनेके लिये दौडते हैं। यथा श्रु०— " अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ॥ " (मु० १ खं० २ मं० ६) अर्थ— बहुत प्रकारसे अविद्यामें रत रहनेवाले अज्ञानी बालकोंके समान भोगोंको पाकर ऐसा मानते हैं, कि हम लोग कृत-कृत्य हैं हमसे अधिक कौन सुखी होगा ?

पातंजलि अपने योगसूत्रमें कहते हैं, कि " परिणामताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वं दुःखमेव विवेकिनः । (पा० अ० २ सू० १५) अर्थ— परिणामदुःख, तापदुःख, और संस्कारदुःख ये तीन प्रकारके दुःख हैं जिनका लेशमात्र भी ज्ञानियों और योगियोंको दुःखदायी जानपडता है । तहां व्यासदेव इन दुःखोंका व्याख्यान करतेहुए कहते हैं, कि " यथा अक्षिपात्रमूर्णातन्तुस्पर्शमात्रेणैव महतीं पीडामनुभवति नेतरांगम् तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुषङ्गेनापि विरज्यते " जैसे नेत्रमें एक पतले सूतके पडजानेसे भी नेत्रको बहुत पीडाहोती है दूसरे अङ्गोंको नहीं होती इसी प्रकार विवेकियोंकी दृष्टिमें जहां कहीं किसी कार्य्यके परिणाममें थोडा भी दुःख देखपडता है तो अधिक क्लेशकर जानपडता है ।

अब पाठकोंके कल्याणनिमित्त ऊपर कथनकियेहुए परिणामदुःख, ताप दुःख और संस्कारदुःख तीनोंका वर्णन कियाजाता है । श्री व्यासदेव कहते हैं—

१. " विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखान्तरसाधनत्वाच्चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् ।"

अर्थ— परिणामदुःख= विषयभोगने वालोंको भोगके पदार्थोंमें जैसे-जैसे स्पृहा बढतीजाती है तैसे-तैसे तिन भोगोंके पदार्थोंकी अप्राप्तिका कारण हटानेके निमित्त जो यत्नकरनेमें दुःख उठाना पडता है वह दुःखस्वरूप अवश्य है इसीको परिणामदुःख कहते हैं ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब प्राणीके इस जन्मके उद्यमसे, चाहे अनायास बिना किसी उद्यमके वा प्रारब्धकी प्रबलतासे जब

विषयभोगके पदार्थ हाथआजाते हैं तब उन पदार्थोंसे संगहोजानेके कारण उनसे प्रीति होजाती है। इसलिये प्राणी इन भोगोंको अपना श्रेय और प्रेय अर्थात सबसे श्रेष्ठ और प्रिय समझने लगजाता है। एवम् प्रकार उस पदार्थसे प्रीति लगते-लगते उसकी (गर्द्धा) अर्थात उसकी स्पृहा वृद्धिको प्राप्तहोने लगजाती है। अतएव जब उनके बढानेकी अभिलाषा करता है तब उनको बढाते समय जितनी रुकावटें होती हैं उनको दूर करनेमें दुःखका लेश अवश्य होता है। क्योंकि वे पदार्थ प्राप्त न होनेके कारण दुःखरूप हो भासते हैं। इसी प्रकारके दुःखको **परिणामदुःख** कहते हैं।

२. उपभुज्यमानेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रतिद्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्त्वात् सुखानुभवकालेऽपि तापः दुःख दुष्परिहारमिति **तापदुःखता** "

अर्थ— **तापदुःख**= विषयभोगके पदार्थोंमें जितने प्रतिकूल पदार्थ हैं उनमें सदा द्वेषके अवस्थित रहनेकेकारण सुख अनुभव करतेसमय भी उन द्वेषोंका दूरकरना अत्यन्त ही दुःखका विषय है अर्थात दुष्परिहार है इसलिये ऐसे दुःखको **तापदुःख** कहते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि विषय भोगोंमें उनके प्रतिकूल जो पदार्थ आपडते हैं उनसे द्वेष उत्पन्न होता है। तब भोगनेवाला चाहता है, कि जैसे होसके वैसे इन बिरोधी पदार्थोंका हनन करडालूं। तब उनके हनन करनेके यत्नमें प्रवृत्त होता है पर विषयी विषय भोगते समय अंधा होजाता है इसलिये द्वेषी पदार्थोंके हनन करनेमें समर्थ नहीं होसकता। तब उसे व्याकुलता उत्पन्न होती है। जिस

कारण वह नाना प्रकारके अधर्म कर बैठता है । तब भी जब विषय भोगके द्वेषी उससे नहीं हट सकते तब उसके हृदयमें उनका ताप बना रहता है । ऐसे दुःखको तापदुःख कहते हैं ।

३. स्वाभिमतानभिमतविषयसन्निधाने सुखसंविद्दुःखसम्विन्चोपजायमाना तथाविधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात्सर्वस्मै एव दुःखत्वमिति संस्कारदुःखत्वम् ।

अर्थ— संस्कारदुःख= अपने अभीष्ट (इच्छा) के अनुकूल, चाहे अभिमतके विरुद्ध, जब विषय भोगकी समीपता होपडती है तब सुख अथवा दुःखके संयोग होनेसे उसी प्रकारके संस्कार मनुष्य के क्षेत्र अर्थात् शरीर, मन और वाणीमें आरम्भ होते हैं सो भूलते नहीं । उसी प्रकारकी स्फूर्तिभी होती है उसी स्मृति और स्फूर्ति द्वारा प्राणी अपने शरीर, मन और वचनसे पापके करनेमें प्रवृत्त होता है । एवम् प्रकार इन अपरिमित संस्कारोंके द्वारा जो संसारकी उत्पत्ति है तिसका उच्छेदन करना कठिन होजाता है । इसलिये प्राणी बारम्बार जन्म-मरणके कारण दुःख ही दुःखको अनुभव करता रहता है ऐसे दुःखको संस्कारदुःख कहते हैं ।

सूत्रमें जो पहले ऐसा कह आये है, कि गुणवृत्तिके विरोधसे ये तीनों दुःख ज्ञानियोंको अधिक दुःखदायी होते हैं उसे अब स्पष्टकरे दिखलाते हैं, कि सत्व, रज, तम ये तीनों गुण चित्तवृत्तिमें अपनी प्रवलता दिखलाते हैं क्योंकि ये तीनों अपने-अपने स्थानमें एक समान प्रवल हैं ।

इसलिये एक दूसरेकी प्रबलता सह नहीं सकते। जैसे संसारमें भी समान शक्तिवाले परस्पर विरोध करते हैं। एवम् प्रकार विषय भोगते समय जो तीनों की विरुद्धतामें चित्त पडजाता है और इनके झगडेके छुडानेमें क्लेशका अनुभव करता है तब उसी दुःखको **गुणवृत्तिविरोधदुःख** कहते हैं। जैसे एक पुरुषकी तीन धर्म्मपत्नियां हों तीनों रूप रसमें समानहों और तीनों परस्परमें लडपडें तो पतिको इनकी शान्ति करनेमें परम क्लेश होता है। जब तक इनकी शान्ति होती नहीं तबतक पति किसीभी स्त्रीकेसाथ सुखपूर्व्वक विहार नहीं करसता। यह वार्त्ता स्पष्ट है, कि इन तीन स्त्रीवालोंको जितनी ही सुखकी अधिकता है उतनाही उस सुखके वर्त्तमान रखनेमें क्लेशभी है। इसी कारण सूत्रकार कहते हैं, कि **गुणवृत्तिविरोधसे** जितने विषयभोगोंमें क्लेश हैं वे अवश्य ही परम दुःखस्वरूप ही हैं।

इसलिये *गुणवृत्तिविरोधकरके उपर्य्युक्त तीनों प्रकारके दुःखोंका लेशमात्र भी (दुःखमेव विवेकिनः) विवेकियोंको दुःखदायी है।

---

* प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच प्रकारकी वृत्तियां हैं जो मनुष्योंको दुःख और सुखकी देनेवाली होती हैं। दुःख देनेवाली वृत्तियां क्लिष्ट कही जाती हैं अर्थात् जो राग द्वेष द्वारा कर्म कराके सुख दुःखमें बांधती है। और जो वृत्तियां प्राणियोंको मोक्ष पदवी तक पहुंचाती हैं, वे अक्लिष्ट कहलाती हैं। जितनी वृत्तियां हैं वे वैराग्य द्वारा शान्त होजाती हैं। जब तक ये शान्त नहीं होती तब तक ये पांचों वृत्तियां रज, सत और तम तीनों गुणोंसे मिलकर पन्द्रह प्रकारकी क्लिष्ट वृत्तियां बनजाती हैं। इसीको **गुणवृत्तिविरोधदुःख** कहते हैं।

इसलिये प्राणियोंको उचित है, कि वैराग्य द्वारा इनकी शान्ति करे।

इसी अभिप्रायको श्यामसुन्दर इस श्लोकमें कहते हैं, कि हे कौन्तेय ! इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्तके जितने सुख हैं सब दुख:हीके कारण हैं और आद्यन्तवान् अर्थात् आगमापायी हैं । इसलिये (बुधः) जो विवेकी जन हैं वे इनमें नहीं रमते ॥ २२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! ऐसा भी कोई है जो इन दुःखोंसे रहित होकर सुखी होवे ?

इसके उत्तरमें भगवान कहते हैं—

मू०— शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं बेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३

पदच्छेदः— यः (विवेकी) शरीरविमोक्षणात् (मरणात) प्राक् (पूर्व्वम्) कामक्रोधोद्भवम् (कामक्रोधोभयाञ्जातम्) वेगम् (चित्तप्रक्षोभणम्) इह (अस्मिन् जन्मनि) एव (निश्चयेन) सोढुम् (प्रसहितुम्) शक्नोति (समर्थो भवति) सः, युक्तः (योगी) सः, सुखी (परमानन्दानुभवी) [तथा सः] *नरः ॥ २३ ॥

पदार्थः— (यः) जो विवेकी पुरुष (शरीरविमोक्षणात्) शरीर छोडनेसे (पूर्वम्) पहले (इह) इसी जन्ममें अथवा इसी लोकमें (एव) निश्चयकरके (कामक्रोधोद्भवम्) काम और क्रोधसे उत्पन्न

* स एव नरः पुमान् पुरुषार्थसम्पादनात्, तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्ररतत्वेन मनुष्याकारः पशुरेवेति भावः ।

(वेगम्) क्षोभको (सोढुम्) सहनकरनेमें (शक्नोति) समर्थ होताहै (सः) वही (युक्तः) योगयुक्त योगी है (सः) वही (सुखी) परम सुखका भोगनेवाला है तथा वही (नरः) पुरुष है ॥ २३ ॥

भावार्थः— श्री गोलोकविहारी मदनमुरारी पूर्वश्लोकमें यह दिखाचुके हैं, कि इस लोकसे ब्रह्मलोक पर्य्यन्तके विषय-भोगोंकी कामना करनेवाले दुखी रहते हैं । इतना सुनकर जो अर्जुनने पूछा है, कि यथार्थ सुखी कौन है ? तिसके उत्तरमें श्री व्रजकिशोर भक्तचित्तचोर कहते हैं, कि [**शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् * कामक्रोधोद्भवम् वेगम्**] काम और क्रोधसे उत्पन्न जो वेग है वह अत्यन्त ही प्रवल होता है । सो जो प्राणी शरीर छोडनेसे पहले ही इसी जन्ममें इनके क्षोभको सहसक्ता है वही प्रशंसनीय है । जैसे वायुके वेगसे बडे-बडे वृक्ष जडसे उखडकर गिरपडते हैं किसीके काम नहीं आते तब मनुष्य उन्हें चूल्हेमें जलाडालते हैं । इसी प्रकार जिस प्राणीके चित्तमें काम-क्रोधका प्रचण्ड वेग चलता है तब उसे जडसे उखाडकर फेंकदेता है । फिर तो माया अपने चूल्हेमें इसे खोर-खोरकर जलाडालती है । ये दोनों काम और क्रोध प्राणियोंके परमशत्रु हैं । ये ज्ञानियोंके चित्तको भी अवकाश पाकर बिगाडदेते हैं । सो भगवान् पहलेही कहआये

---

* यहां काम शब्दसे स्त्रीप्रसंगकी अभिलाषा तथा नाना प्रकारके विषयोंकी तृष्णा दोनोंसे तात्पर्य्य है और अपनी अभिलाषा नहीं पूर्ति होनेमें नाना प्रकारके प्रतिकूल पदार्थोंसे द्वेष करनेको क्रोध कहते हैं ।

हैं, कि " काम एषः क्रोध एष रजोगुण....'' (देखो अ० ३ श्लो० ३७) ये दोनों महा-घोर अनर्थके करनेवाले हैं। जैसे पतंग दीपकमें पडकर भस्म होजाता है ऐसे वे मनुष्यगणभी इनकी ज्वालामें पड भस्म होजाते हैं। इनके वेगका सहना दुस्तर है।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इनके वेगको " **प्राक् शरीर-विमोक्षणात्** " शरीर छोडनेसे पहले " **यः सोढुं शक्नोति** " जो सहन करसकता है [**स युक्तः स सुखी नरः**] वही योगयुक्त यथार्थ योगी है, वही सुखी है और वही नर है नहीं तो नर नहीं स्त्री है। पर जो इन दोनों परम प्रवल शत्रुओंको रोके वही यथार्थ वीर है।

यहां " **शोढुं शक्नोति** " कहनेसे भगवानका यह तात्पर्य्य है, कि जैसे युद्ध करते समय जो शस्त्रोंके आघातसे वीरोंके शरीरमें व्रण, घाव इत्यादि होजाते हैं उनसे निरोग-करनेकेलिये वैद्य वा डाक्टरोंके शस्त्रोंकी चीर-फाड बडी धीरताके साथ सहनी पडती है। इसी प्रकार काम क्रोधके वेगसे जो अन्तःकरणपर विपर्यय, विकल्पादि व्रण पडते हैं उनको ज्ञानकी औषधिसे निरोग करने पर्य्यन्त जो चित्तकी एक विशेष प्रकारकी दशा होती है उसे सहन करनेमें जो समर्थ है और एवम् प्रकार " **मरणसे पहले** " जो सहनका अभ्यास करलेता है वही यथार्थ वीरपुरुष है।

यहां " **मरणसे पहले** " कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि मरणके पश्चात् चिताकी अग्निकी ज्वाला तो यह शरीर सहता ही है तथा उसके शवमें सहस्रों अप्सरायें क्यों न लिपटजावें उसको शत्रु

सहस्रों गालियां क्यों न देवें तनिक भी क्षुभित नहीं होता। क्योंकि प्राणी प्राणरहित होजाता है। ऐसे ही जो प्राणी जीतेहुए अर्थात् प्राण-रहतेहुए काम क्रोधका सहनेवाला है वही यथार्थ योगी है। क्योंकि योगी ही काम क्रोधके वेगको सहन करसकता है। श्री वशिष्ठजीने भी श्रीराम-चन्द्रजीके प्रति कहा है, कि " प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥" अर्थात् मरजानेपर जैसे यह देह सुख दुःख कुछभी अनुभव नहीं करती ऐसे यदि प्राण रहते इन दोनोंको सहन करले तो अवश्य कैवल्यपरमपदमें जा बसे। इन शत्रुओंका सम्बन्ध प्राणसे है जबतक इस शरीरमें प्राणका अयुक्त प्रवाह रहता है तबतक इन दोनोंका वेग बनारहता है। जब योगी प्राणायामादि क्रियाओंके द्वारा प्राणका निरोध करलेता है तब इन दोनोंका भी निरोध होजाता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि जो इनको सहता है "स युक्तः सः सुखी नरः" वही सुखी और वही + नर है।

+ इसी नरको मनुष्यके नामसे पुकारते हैं जिसकी प्राप्ति दुर्लभ है। प्रमाण—

व्युतक्रमेणापि मानुष्यं प्राप्यते पुण्यगौरवात्।
विचित्रा गतयः प्रोक्ताः कर्मणां गुरुलाघवात्॥
देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमतिदुर्लभम्।
तत् संप्राप्य तथा कुर्यात् न गच्छेन्नरकं यथा॥
सर्वस्य मूलं मानुष्यं तद्यत्नादनुपालय॥
धर्ममूलेन मानुष्यं लब्ध्वा सर्वार्थसाधकम्।

अथवा " सुखीनरः " का यों अर्थ करलो, कि वही नरोंमें सुखी है अर्थात् और मनुष्योंकी अपेक्षा वही यथार्थ सुखी है ।

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि योगीजन तो इस लोकसे ब्रह्म-लोकतकके सुखोंका तिरस्कार करदेते हैं फिर उनको कहां कौनसा सुख मिलता है ? तथा जिस सुखका वे अनुभव करते हैं उसका कहां अधिष्ठान है ? और उस सुखसे वे किस दशाको प्राप्त होते हैं ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४

पदच्छेदः— यः (पुरुषः) **अन्तःसुखः** (विषयसुखशून्यत्वादन्तरात्मनि सुखं यस्य सः) **अन्तरारामः** (आत्मन्येव नतु स्त्र्यादिविषये आरमणं क्रीडा यस्य सः) तथा यः, **अन्तर्ज्योतिः** (अन्तरात्मैव विज्ञानरूपप्रकाशो यस्य । समाधिकाले शब्दप्रतिभासाभावात् व्युत्थानकाले तत्प्रतिभासेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न वाह्यविषयैः सुखोत्पत्तिर्यस्य सः) **एव**, [अस्ति] स **योगी** (योगयुक्तात्मा) **ब्रह्मभूतः** (जीवन्नेव ब्रह्मसाक्षात्कारत्वात् ब्रह्मभावं गतः) **निर्वाणम्** (अविद्यावरणनिवृत्तम् । गत्यप्राप्यपरमानन्दम्) **ब्रह्म** (व्यापकम्महेश्वरम्) **अधिगच्छति** (नित्यप्राप्तमिव प्राप्नोति) ॥ २४ ॥

मानुषत्वे च विप्रत्वं यदि प्राप्नोति दुर्लभम् ॥
न करोत्यात्मनः श्रेयः कोऽन्योऽस्मादस्त्यचेतनः ॥

पदार्थः— (यः) जो पुरुष (अन्तःसुखः) बाह्य-विषयों से शून्य होकर अपने भीतर ही भीतर अपने आत्मा ही में सुखी है तथा (अन्तरारामः) जो स्त्र्यादि विषयोंकी बाह्य-क्रीडाको त्याग आत्मा ही के साथ क्रीडा करनेवाला है तथा (यः) जो (अन्तर्ज्योतिः) भीतर ही भीतर अन्तरात्मामें विज्ञान-रूप प्रकाशसे प्रकाशित है (एव) निश्चय करके (सः) सो ही (योगी) योगी (ब्रह्मभूतः) जीते-जीते ब्रह्मका साक्षात्कार करलेनेसे ब्रह्मस्वरूप ही होकर (निर्वाणम्ब्रह्म) उस मायाकी उपाधियोंसे शून्य आनन्दमय ब्रह्मको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके पूर्व प्रश्नोंका उत्तर देते-हुए कहते हैं कि हे अर्जुन ! तूने जो पहले यह प्रश्न किया, कि विषय-सुख के परित्याग करनेवाले किस सुखको प्राप्त होते हैं ? सो सुख मैं तुझ से कहता हूं सुन ! [योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः] जो प्राणी अपनेमें अर्थात् भीतर ही भीतर आत्मा ही में सुखका अनुभव करनेवाला है । जैसे प्राणी अपनी स्त्र्यादि से रमण करताहुआ नाना प्रकारकी क्रीडा कर आनन्द गुप्त रखता है किसी दूसरेको नहीं जनाता इसी प्रकार जो विवेकी पुरुष अपने अन्तरात्मामें आत्माके साथ रमण करताहुआ किसी बाहरवाले विषय-सुखको घुसने नहीं देता वही यथार्थ सुखी है ।

प्रश्न— सो सुख क्या है ? कैसा है ? समझमें नहीं आता समझाकर कहो !

उत्तर— विचारने योग्य है, कि सुख जिसका नाम है सो क्या वस्तु है ? सुनो !

"सुखं चतुर्विंशतिगुणान्तर्गतगुणविशेषः तत्तु नित्यं जन्यञ्चः । नित्यं परमात्मनो विशेषगुणान्तर्वर्त्ती । जन्यसुखं जीवात्मनो विशेषगुणान्तर्वर्त्ती ॥"

अर्थ— २४ गुणोंमें सुखको भी एक गुण तार्किकलोग मानते हैं। सो दो प्रकारका है नित्य और जन्य । जो परमात्माके विशेष गुणोंका अन्तर्वर्त्ती है वह नित्य है । और जो जीवात्माके विशेष गुणोंका अन्तर्वर्त्ती है सो जन्य कहलाता है। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया····" इस श्रुति के वचनानुसार परमात्मा और जीवात्मा दोनों परस्परके सखा हैं । इन दोनोंमें नित्य अटल प्रेम है । पर जितनी देरतक यह जीव मायाके आवरणसे ढककर अपने सखासे विमुख हो तिन परम चिकनी चुलबुली माया रचित विषयोंसे स्नेह रखता है तबतक वह दुखी है । क्योंकि जीतेही-जीते इनसे स्नेह रखता है मरणके समय तो इनसे वियोग ही होजाता है । सो एकदिन न एकदिन मरना अवश्य ही है इसलिये विषयोंका प्रेम नित्य स्थिर नहीं रहनेसे परिणाममें दुःखदायी है ।

मायारचित चिकनी चुलबुली वस्तु क्या हैं ? सो सुनलो ! वसन्त-ऋतुमें शीतल-मन्द-सुगन्ध-पवन, चातकोंकी मधुर पी पी ध्वनि, कोकिलकी कुहक, बुलबुलकी चहक, पुष्पोंकी महक, कामिनीके गलेमें बेली, चमेली, जुही इत्यादि पुष्पोंकी तथा मणि, माणिक, मुक्ता इत्यादि रत्नोंसे गुथीहुई मालाओंकी लटक एवम्प्रकार शृङ्गारयुक्त मधुरबयनी, मृग-

शावकनयनी, विषयसुखअयनी स्त्रियोंका सेवन, परमप्रिय सुन्दर पुत्रका सुखचुम्बन, मिष्टान्न पान, रागरागिनियोंकी मधुर तान, मणि माणिक्की खान, रथ, अश्व, गज, सेना इत्यादिके मध्य सुन्दर चामर और मर्द-लसे परम सन्मान, राजविभवके भोग ये ही मायारचित चिकनी चुलबुली मोहिनी वस्तु हैं, ये सुख जीवात्माके गुणोंके अन्तर्वर्त्ती सुख हैं। वे क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं और विनाशी हैं इसलिये इनको दुःख ही कहना चाहिये अतएव शास्त्रोंने इनको जन्यसुख कहकर तिरस्कार करदिया है।

शंका— ये भी प्रकृति और जीवके अनादि होनेके कारण अनादि हैं, इसलिये नित्य हैं, इनको अनित्य क्यों कहाजावे ? और इनके विना कैसे रहाजावे ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि पुनः-पुनः इस सृष्टिकी रचना और संहार होतेरहनेके कारण ये सुख भी वारम्वार आते-जाते रहते हैं। इसलिये इनको भी अनादि कहते हैं तो स्मरणरहे, कि इनहीके साथ-साथ इनके परिणाम दुःखको भी अनादि कहना चाहिये। क्योंकि जहां इन विषयोंकी प्राप्तिके सुख हैं तहां इनके वियोगके दुःख भी तो हैं ? फिर संसृत-सुखके साथ दुःख मिश्रित हैं।

प्रमाण—"शरीरमेवायतनं दुःखस्य च सुखस्य च। जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते॥ सुखस्थानान्तरं दुःखं दुःखस्थानान्तरम् सुखम्। सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्त्तते॥ (गरुडपुराण अ० ११३ में देखो)

अर्थ— यह शरीर ही दुःख सुखका घर है। सो इस जीवके जन्म लेनेके साथ ही उत्पन्न होता है। सुखके पश्चात् दुःख और दुःखके पश्चात सुख चक्रके समान जीवके साथ भ्रमण करते रहते हैं। इसी कारण यदि तुम सुखको अनादि समझते हो तो उसके परिणाम दुःखको भी अनादि समझो। क्योंकि दुःखके समय कैसी भी चिकनी चुलबुली वस्तु क्यों न हो भयंकर ही भासती है। जैसे मृत्युके समय मृगनयनी फीकी पडजाती है, पुत्र-पौत्र प्रेतके समान प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार अन्य सुखभी अन्तमें दुःखके कारण होजाते हैं। अतएव इनको नित्य सुख नहीं कहसकते।

इन वार्त्ताओंके देखनेसे बुद्धिमान अनुभव करसकते हैं, कि जितने जन्य-सुख हैं अर्थात विषय—सुख हैं सब दुःखसे मिले हुए हैं। यदि इनको अनादि कहनेकी श्रद्धा है तो ये अनादि दुःखरूप हैं सुखरूप नहीं। हे वादी! तू यदि इन सुखोंको चाहता है तो दुःखोंकी भी इच्छा कर! और अनादि कहाकर! शंका मत कर!

यहां तक जन्यसुखका वर्णन हुआ अब नित्य—सुखका वर्णन सुनो! जीव और ईश्वर जो दो पक्षी परस्परके सखा पहले कहेजाचुके हैं और यह भी दिखलाया जाचुका है, कि जीव अपने सच्चे सखाके मिलनेके सुखसे विमुख होकर उपर्युक्त जन्य-सुखको जो दुःखरूप है सुख समझरहा है। वह यदि इस जन्य-सुखसे मुखमोड अपने सखा ईश्वरकी ओर देखे तब उसे अपने सखासे मिलनेका सुख जो नित्य—सुख है, प्राप्त हो। क्योंकि परमात्मा सदा सर्वदा नित्य-मुक्त, निर्म्मल और स्वच्छ है इसलिये परमात्म-सुख भी स्वच्छ, शुद्ध

और नित्य है। जैसे मासदिवसके भूखेको कहीं पक्वान्न मिलजावे पर भोजन करते समय यदि उसे यह ज्ञात होजावे, कि इसमें विष मिलाहुआ है तो वह क्षुधाके तापको सहन करना स्वीकार करलेगा पर विषमिश्रितअन्नको कदापि ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार जो परमार्थदर्शी है वह विषय—सुखको विषमिश्रित—अन्नके समान परित्याग करदेता है और इस परमात्मप्राप्ति रूप सुखमें मग्न होजाता है जो सदा निर्म्मल और विकार-रहित है। सो परमात्मा इस जीवका सखा इसके साथ है। इसलिये वह परम सुख भी इस जीवके साथहीसाथ है।

विचारो तो सही, कि यदि किसी धनहीनको परमउदार राजकुमारसे मित्रता लगजावे तो उसे कितना सुख होगा? तिसपर भी यदि उसे यह सुधि मिलजावे, कि मेरा मित्र अजर अमर सदा एकरस है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वोपरि सच्चिदानन्द है, तो बताओ तो सही! उसके सुखकी भी कहां सीमा मिलेगी? कहीं भी नहीं

मद्यपी मद्यपीकर सुखका अनुभव करता है, उछलता है और कूदता है सो उछल कूद यदि मद्यमें होती तो जिस पात्र (बोतल) में वह मद्य रखाहुआथा वह बोतल भी उछल कूद करनेलगता पर ऐसा नहीं देखाजाता। जब वह मद्य पीनेवालेके पेटमें जाता है तब ही उछल कूद करता है। इसलिये सिद्धान्त है, कि उछल कूदका आनन्द उस पीनेवालेमें है मद्य तो केवल एक उसके प्रकट करदेनेका कारण होता है। जैसे दीपशलाका(दियासलाई) में आग पहलेसे है पर जब वह किसी वस्तुसे घिसीजाती है तब वह आग उससे प्रकट होजाती है। इसी प्रकार सुख अपने आत्मामें है जब वह

परेमात्मस्वरूपसे जामिलता है वा टक्कर खाता है तब वह नित्य सुख आपसे आप प्रकट होजाता है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि परमात्मा ही सुख-स्वरूप है। स्त्री, पुत्र इत्यादि जो प्रिय जानपडते हैं वे केवल आत्माके ही प्रिय होनेसे प्रिय जानपडते हैं पर यथार्थमें न तो ये प्रिय ही हैं और न सुख-स्वरूप ही हैं । यथा—

दो०——सब आये इस एकमें डाल पात फल फूल ।
कविरा पाछे क्या रहा गहि राखा जिन मूल ॥
एकै साधें सब सधे सब साधे सब जाय ।
जो गहि राखे मूलको फूले फले अघाय ॥

भीतिकी ज्योतिका उदाहरण जो पहले देआये हैं तहां कहागया है, कि भीतिके मन्द-मन्द प्रकाशको देखकर दृष्टि घटके जलकी ओर जहां सूर्य्यका बिम्ब पडरहा है जाती है फिर तहांसे सूर्य्यकी ओर जाती है तब बोध होता है, कि ज्योति न भीतिमें है, न घटमें है परे सूर्य्यमें है । जो सूर्य्यको अपने घरके भीतर रखलेगा उसे क्या किसी अन्य प्रकारकी ज्योति की आवश्यकता होगी ? कदापि नहीं ! इसी प्रकार सब आनन्दका मूल जो परमात्मा, उसीमें जो अपना सुख अनुभव करेगा उसके लिये किसी विषय-सुखकी क्या आवश्यकता है ? कुछभी नहीं ! इसी सूक्ष्म विषयको भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी अन्तः-सुखी है और अन्तराराम है अर्थात् आत्मा ही के साथ सुखका अनुभव करनेवाला है और आत्मा ही में क्रीडा करने वाला है वही यथार्थ

सुखी है। आत्मामें सुखी होना और आत्मा ही के संग क्रीडा करना यथार्थमें क्या है ? सो उपासनाकांडके ६ अध्यायोंमें अर्थात् सातवेंसे बारहवें तक भगवान् अर्जुनको पूर्णरूपसे दिखलावेंगे।

अब शंका यह है, कि अन्तःसुखी भी हो और अन्तराराम भी हो पर उसे इस अवस्थाका बोध न हो तो इससे क्या लाभ ? जैसे सुषुप्तिमें सर्व प्रकारकी चिन्तासे वर्जित सर्व प्रकारके दुःखोंसे भिन्न होकर आनन्दमें सोजाता है पर उस समय उसको उस आनन्दका अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार प्राणी आत्मानन्द लाभ होनेपर भी उस आत्मानन्दके मदमें मत्त हो उस आनन्दकी सुधि न रखे तो उस आनन्दसे लाभ ही क्या होगा ?

इसी शंकाके दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं, कि "**तथा-न्तर्ज्योतिरेव यः**" उस आत्मानन्द और आत्मरतिके अनुभव करनेके लिये विज्ञान-रूप ज्योति भी जिसके भीतर ही भीतर प्रकाश कररही है अर्थात् आत्मसुखका ज्ञाता होरहा है वही यथार्थ सुखी है सो आत्मसुखका ज्ञान केवल तुरीयावस्थामें है जिसका वर्णन अध्याय ३ श्लो० १८ में कर आये हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि प्राणी ज्ञानकी सप्तभूमिकाओंको पार होता हुआ जब अन्तिम भूमिकामें पहुंचकर पूर्ण आत्मानन्दका अनुभव करने लगजाता है तब ही वह 'अन्तर्ज्योति' कहलाता है।

तब भगवान् कहते हैं, कि [**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म-भूतोऽधिगच्छति**] सो ही योगी ब्रह्मस्वरूप होकर निर्वाण-ब्रह्म

को प्राप्त करता है। अर्थात् उस ब्रह्मानन्दको प्राप्त होता है जहां द्वैतका उपराम होजाता है। प्रपंचका लेशमात्र भी नहीं रहता। जैसे अग्नि जलबलकर एकदम बुतजाती है फिर वहां कुछ नहीं रहता थोडेकाल में उसकी भस्म भी इधर-उधर आकाशमें उडकर लय होजाती है दृष्टिगोचर नहीं होती। अथवा जैसे दीपक जलते-जलते तेल-बत्तीके कम होनेसे बुतकर आकाशमें लय होजाता है अर्थात् निर्वाण होजाता है। इसी प्रकार प्राणी जब ब्रह्ममें लय होजाता है तब उसका प्रपंच एकदम नष्ट होजाता है। इसी अवस्थाको भगवानने ब्रह्मभूत होना कहा है ॥ २४ ॥

निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्तिवाले कौन-कौन हैं ? तिनको भगवान्
इस श्लोकमें दिखलाते हैं—

मू०— लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

पदच्छेदः— क्षीणकल्मषाः (क्षीणपापादिदोषाः) छिन्नद्वैधाः (छिन्नद्वैधीभावाः) यतात्मानः (संयतेन्द्रियाः) सर्वभूतहिते रताः (सर्वेषाम्भूतानां हितानुकूल्ये रताः । अहिंसकाः । परोपकारिणो वा) ऋषयः (सूक्ष्मवस्तुविवेचनसमर्थाः सम्यग्दर्शिनः) ब्रह्म, निर्वाणम् (गत्यप्राप्यपरमानन्दं मोक्षम्) लभन्ते (प्राप्नुवन्ति) ॥ २५ ॥

पदार्थः— (क्षीणकल्मषाः) निष्काम-कर्मोंके सम्पादन द्वारा पापोंको नाशकरके अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कियेहुए तथा (छिन्न

द्वैधाः) संशयरहित होकर शत्रु मित्रके भेदको नाश कियेहुए (यतात्मानः) अपनी इन्द्रियोंको अपने वशीभूत रखतेहुए (सर्वभूतहिते रताः) सब जीवोंके हितकरनेमें रत अर्थात् अहिंसक और परोपकारी (ऋषयः) ऋषिगण (ब्रह्म निर्वाणम्) निर्वाणब्रह्मको अर्थात् अगम अथाह ब्रह्मानन्दको (लभन्ते) लाभकरते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् उन पुरुषोंका वर्णन करते हैं जो निर्वाणब्रह्मकी प्राप्तिके अधिकारी हैं और जो कभी न कभी उस अगम अथाह आनन्दको प्राप्त होते हैं, तिनकी प्रशंसा करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः**] जो ऋषिगण क्षीणकल्मष हैं अर्थात् सर्व प्रकारके पापोंसे रहित होचुके हैं, नाना प्रकारके श्रौत, स्मार्त्त कर्मोंका सम्पादनकर उनके फलोंको भगवत्में अर्पण करतेहुए अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा पापोंसे रहित होचुके हैं वे निर्वाणब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।

शंका— केवल पापोंसे छूट जानेसे तो निर्वाण पदवी नहीं होसकती ? शास्त्रोंसे तो ऐसा पायाजाता है, कि पापोंके क्षीण होनेके पश्चात् फिर प्राणीको इसी पांचभौतिक शरीरमें आना पडता है । प्रमाण— "**यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः । तान्येव पंचभूतानि पुनरप्येति भागशः**" (मनु० अ० १२ श्लो० २२) अर्थात् प्राणी नरकमें अपने पापोंको भोग पापरहित हो फिर संचितकर्मकी प्रेरणासे इसी पञ्चभौतिक शरीरमें कर्मानुसार आगिरता है । तो भगवान्ने क्षीणकल्मषोंकेलिये निर्वाणपदकी प्राप्ति कैसे कही ?

समाधान— यहां क्षीणकल्मष होनेका यह तात्पर्य्य नहीं है, कि पूर्व पापोंको नरकमें भोगकर फिर–फिर जन्म लियाकरे। यह तो मनुने साधारण अज्ञानी जीवोंकी दशा वर्णन की है, जो बारंबार शुभाशुभ कर्मोंके द्वारा इस संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।

श्यामसुन्दरके कहनेका ऐसा तात्पर्य्य नहीं है। उनके कहनेका मुख्य अभिप्राय तो यह है, कि जिन ऋषियोंने अपने तप द्वारा पूर्व पापोंको नाशकर इतनी शक्ति प्राप्त करली है, कि वे किसी प्रकारकी लालचमें पड फिर किसी अनुचित कर्मके कर्त्ता नहीं होते। इसी कारण भगवान्‌ने केवल क्षीणकल्मषा न कहकर " ऋषयः क्षीणकल्मषाः " कहा " मनुष्याः क्षीणकल्मषाः " नहीं कहा। फिर विद्वान् विचारलेंगे, कि ऋषि और मनुष्यमें कितना अन्तर है। शंका मतकरो!

किसी-किसी टीकाकारने 'कल्मष' शब्दके अर्थ शुभ और अशुभ दोनों किये हैं। तहां यों दिखलाया है, कि ये दोनों कर्मबन्धनके कारण हैं। इसलिये जो सम्यग्दर्शी महात्मा शुभ और अशुभ दोनोंसे रहित होगये हैं वे ही निर्वाणके अधिकारी हैं। इन क्षीणकल्मष-ऋषियोंको निर्वाण प्राप्त होनेकेलिये अनेक अन्य गुणोंसे भी सम्पन्न होना चाहिये वे कौनसे गुण हैं तिन्हें भगवान् आधे श्लोकमें कहते हैं, कि [**छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः**] क्षीणकल्मष ऋषियोंको छिन्नद्वैध, यतात्मा और सर्वभूतहित-रत होनाचाहिये। तहां 'छिन्नद्वैध' किसे कहते हैं? सो सुनो! द्वैध शब्दके दो अर्थ हैं सामान्यतः तो किसी प्रकारकी शङ्का वा सन्देह और विशेषतः छल, कपट और धोखा।

तहां बहुतेरे साधारण सीधे-सादे प्राणियोंके हृदयमें कभी-कभी पाप पुण्यकी उलटी पुलटी दशा देखकर शंका वा सन्देहकी उत्पत्ति वेदशास्त्र वा महानुभावोंके वाक्योंसे होजायाकरती है। क्योंकि जब ये पापियोंको सुखी और धर्म्मात्माओंको दुखी देखते हैं तब इनको कर्मोंमें अविश्वास होजाता है। ऐसी दशामें बहुतेरे बुद्धिमान्‌भी चक्करमें आजाया करते हैं। पर जो द्वैधरहित अर्थात् छिन्नद्वैध हैं वे पूर्वजन्मार्जित कर्मोंका भेद समझकर वेद शास्त्र इत्यादिमें शङ्का नहीं करते, पाप पुण्यकी उलटी-पुलटी दशा देखकर अपना विश्वास नहीं छोडते और संशयमें नहीं पडते। इसलिये वे छिन्नद्वैध कहेजाते हैं।

अब छिन्नद्वैधका विशेष अर्थ सुनो ! जो प्राणी इन दिनों इस कलिमें अपनेको बडा चतुर समझ परायेको धोखेमें डाल अपना स्वार्थ सिद्ध करलिया करते हैं वे पूरे * द्वैधभाव वाले कहेजाते हैं ऐसे की संगतिसे सज्जनोंको अत्यन्त कष्ट होता है इसलिये उचित है, कि इनकी संगति छोड प्राणी छिन्नद्वैध होनेका उपाय करता रहे। जो प्राणी इस घोर पापसे रहित होवे उसे भगवान् छिन्नद्वैध कहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकारे जो प्राणी छिन्नद्वैध हैं अर्थात् संशयरहित हैं और छल, कपट, प्रपंचसे दूर हैं वे ही निर्बा-

---

* द्वैध— जिसे छल, कपट और धोखा कहते हैं। यह वर्त्तमान समयमें दूसरे देशकी बडी सुहावनी मीठी चिकनी एवं चुलबुली सौगात है। जिसे हमारे देशी भी इन दिनों पूर्ण प्रकार सीखगये हैं। इसको अंग्रेजी भाषामें डुपलिसिटी (Duplicity) अथवा पौलिसी (Policy) कहते हैं।

ण-पदके अधिकारी होते हैं। फिर भगवान् कहते हैं, कि "यतात्मानः" जिन लोगोंने अपनी इन्द्रियोंको अपने वश किया है वे निर्बाण-पदवीके अधिकारी अवश्य होते हैं। क्योंकि इन्द्रियोंके वशीभूत करनेसे उनमें एक विशेष तेजकी वृद्धि होती है। तिस तेजके समीप किसी प्रकारकी उपाधिका पतंग नहीं आता। क्योंकि वे यतचित्तात्मा होजाते हैं और इस प्रकार अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको समेट एकाग्र करलेते हैं, कि चाहे सहस्रों अप्सराएँ उनके अंगमें क्योंन लिपटजावें वे अपने स्थानसे नहीं टलते। इसलिये ये ही निर्बाण-पदवीके अधिकारी होते हैं। तथा भगवान् कहते हैं, कि "**सर्वभूतहिते रताः**" जो ऋषिगण सबोंके हित करनेमें रत हैं अर्थात् अपने शरीरको भी देकर दूसरेका प्राण बचाते हैं वे ही निर्बाण-पदवीके अधिकारी हैं।

इसलिये जो साधु हैं वे सब प्राणियोंपर समान दया करते हैं। तहां विष्णुशर्म्मा ऋषिका बचन है, कि "**आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः**" सब जीवोंको जो अपने समान देखता है वही पण्डित है। और "**स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः**" वही बन्धु है अर्थात् सबोंके हितमें रत है जो आपत्तिमें पडेहुए मनुष्योंको आपत्तिसे निकाललेनेमें कुशल हो। फिर कहा है, कि "**धनानि जीवितंचैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्। सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥**" (हि० मि० श्लो० ४४) अर्थात् प्राज्ञ जो विद्वान् सम्यग्दर्शी हैंउनको चाहिये, कि धन और प्राणको परार्थके अर्थ परित्याग करदेवें क्योंकि एकदिन तो इन सबोंका विनाश होहीजाता है। इसलिये उत्तम निमित्तसे

प्राण त्यागदेना उत्तम और श्रेष्ठ है ऐसा प्राणी अवश्य निर्वाण-पदवीका अधिकारी है इसीसे भगवानकी प्रसन्नता होती है । अतएव भगवान् कहते हैं, कि जो ऋषिगण एवम्प्रकार द्वैधसे रहित, जितेन्द्रिय, परोपकारी और सर्वोंके हितमें रत हैं वे ही निर्वाणब्रह्मको प्राप्त होते हैं । अर्थात् उस परमानन्दको लाभ करलेते हैं जहां वेदका भी गम नहीं है । जहां श्रुति स्वयं कहती है, कि " न विद्मो न विजानीमोऽनुशिष्यात् " अर्थात् न मैं जानती हूं और न शिष्यको जनासकती हूं ॥ २५ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि निर्वाण-पदवीके अधिकारी 'मरनेहीपर इस आनन्दको नहीं प्राप्त करते वरु जीतेही जीते' इस आनन्दको लाभ करते हैं —

मू०— कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ २६

पदच्छेदः— कामक्रोधवियुक्तानाम् (कामक्रोधयोरुत्पत्ति-प्रतिबन्धयुक्तानाम कामक्रोधनिवृत्तचित्तानाम्) यतचेतसाम् (संयतान्तःकरणानाम्) विदितात्मनाम् (विदितो ज्ञात आत्मा यैस्ते विदितात्मानस्तेषाम् । ज्ञातात्मतत्वानाम्) यतीनाम् (यत्नशीलानाम्) अभितः (उभयतो जीवितां मृतानां च) ब्रह्म निर्वाणम् (ब्रह्मणि लयः) वर्त्तते ॥ २६ ॥

पदार्थः— (कामक्रोधवियुक्तानाम्) काम क्रोधसे रहित (यतचेतसाम्) अपने अन्तःकरणको संयमपूर्वक निर्म्मल रखनेवाले

तथा (विदितात्मनाम्) आत्मज्ञान द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले (यतीनाम्) यतियोंका (अभितः) जीतेहुए तथा मरणके पश्चात् दोनों अवस्थाओंमें (ब्रह्मनिर्वाणम्) कैवल्य परमपद (वर्त्तते) वर्त्तमान रहता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— अब श्री गोलोकविहारी अर्जुनसे कहते हैं, कि **[कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्]** काम क्रोधसे जो रहित हैं अर्थात् काम क्रोधके वेगको सहतेहुए तिनकी उत्पत्तिके रोकनेके यत्नमें जो लगेहुए हैं वे यती वा यतचेतस कहलाते हैं अर्थात् वे इन दोनोंके समीप जाना ऐसा समझते हैं मानों सिंहके मुखमें जारहे हैं। चित्रकी-स्त्रीतकको भी देखना नहीं चाहते। स्त्रीपुरुषकी कहानियोंकी पुस्तकोंका स्पर्श भी नहीं कियाचाहते। शीतल मन्द सुगन्ध कामोद्दीपन करनेवाले पवनके समीप भी नहीं जाते। काम बढानेवाले पौष्टिक-पदार्थोंको भी कभी मुखमें नहीं डालना चाहते। कामको अपना सदा वैरी समझते हैं। जिसके विषय भगवा-न्‌ने पहलेही अर्जुनसे कहा है, कि “ जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ” (अ० ३ श्लो० ४३) अर्थात् हे अर्जुन! तू कामरूप दुर्जेय शत्रुको परित्याग कर । इसलिये जो कामके उत्पन्न करनेवाले सर्वप्रकारके परिग्रहोंका भी त्याग कियाकरते हैं, क्रोधके कारणोंको भी अपने समीप नहीं आनेदेते, संयोगवशात् यदि कोई शत्रु वा अपने इष्टके प्रतिकूल किसी विषयका आगमन देखभीलें तो शान्त रह-कर क्रोधको उत्पन्न नहीं होनेदेते, ऐसे जो सर्वोपद्रवरहित हैं तथा जो यतधर्म्म पालन करते हुए अन्तःकरणको तनक भी इधर उधर हिलने

नहीं देते वरु सर्वप्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे वर्जित रखते हैं, शुभाशुभ वासनाओंसे सहस्रों योजन दूर भागते हैं और भगवान्के मुखारविंदसे निकलेहुए दूसरे अध्यायके ६० वें श्लोकको आठों याम स्मरण रखते हैं। इसलिये जो सदा इन्द्रियोंके उपद्रवोंसे चौकस रहते हैं उन ही आत्मज्ञानियोंको [अभितो ब्रह्म निर्वाणम् वर्त्तते विदितात्मनाम्] जीवित दशामें अथवा शरीर छूटनेके पश्चात् निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति सदा वनीरहती है अर्थात् अद्वितीय परमानन्दस्वरूप मोक्ष वर्त्तमान रहता है । कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि ऐसे प्राणी जीते—जीते भी मुक्त हैं और मरनेपर तो अमृत-पदको प्राप्त करते ही हैं।

अब इन २४, २५, २६ श्लोकोंमें जो भगवान् " ब्रह्मनिर्वाणम् " पदका प्रयोग करते चलेआये हैं उसका यथार्थ अर्थ क्या है? सो ब्रह्मोपनिषद्की श्रुति द्वारा स्पष्ट करदिया जाता है—

श्रु०— " ॐ स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम्। यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापस एकमेव तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्। "

अर्थ— जिस अवस्थामें आप अपने रूपसे प्राणी अमनस्क अर्थात मनके संकल्प-विकल्पोंसे रहित होजाता है, मनोनाश होकर वृत्तिरहित होजाता है इसी प्रकार श्रोत्र, पाणि, पाद अर्थात सुनना, ग्रहण करना, गमन करना इत्यादि इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित होजाता

है। सब कुछ करताहुआ भी ऐसे समझता है, कि मैं कुछ नहींकरता। फिर "ज्योतिर्विदितम" अर्थात् स्वयं प्रकाशमान स्वरूप होजाता है जिस प्रकाशमें ऊपरके सातों लोक और नीचेके सातों लोक अलोकवत् होजाते हैं। अर्थात् जिस परमानन्दमें इन लोकोंका भेद भी शेष नहीं रहता तथा (देवा न देवा) इन्द्रादि तैंतीस-कोटि देव भी अदेव होजाते हैं ऋग्, यजु, साम और अथर्व चारों वेद भी अवेद होजाते हैं। अर्थात् अपराविद्यामें यह पराविद्या लोप होजाती है। जैसे समुद्रमें तरंगें लोप होजाती हैं। जहां जाकर नाना प्रकारके यज्ञ अयज्ञ होजाते हैं। अर्थात् फिर किसी श्रौत वा स्मार्त्त कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जहां माता अमाता होजाती है। पिता अपिता होजाता है। स्नुषा जो पुत्रकी स्त्री वह अस्नुषा होजाती है। स्त्री पुरुषका कुछ शेष ही नहीं रहता, सब एक रूप देखपडते हैं। जहां चाण्डाल अचाण्डाल होजाता है और पौल्कस (परम नीच जाति) अपौल्कस होजाता है। जैसा, कि भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे इस अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहचुके हैं, कि "विद्याविनयसम्पन्ने"। जहां जाकर "श्रमण" जो संन्यासी वह असन्न्यासी होजाता है। "तापस" जो वानप्रस्थ वह अवानप्रस्थ होजाता है। अर्थात् वर्ण और आश्रमका भेद शेष नहीं रहता। इसलिये श्रुति कहती है, कि "एव मेव" ये सब मिल-मिलाकर एक होजाते हैं। जैसे गंगाकी महान् धारामें पुष्प, चन्दन, अगर इत्यादि निर्मल वस्तु और हाड, मांस, चाम इत्यादि मलिनवस्तु सब एक रूप होजाती हैं, शुद्धाशुद्धका भेद शेष नहीं

रहता । इसी प्रकार "तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्" सो निर्वाण परब्रह्म सर्वत्र सुशोभित होरहा है । ऐसी अवस्थाको प्राप्त होजाना निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति होना है सो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठोंको जीते मरते दोनों दशामें एकरस वर्त्तमान रहता है ॥ २६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ऐसी अवस्था प्राप्त करनेके लिये कोई विशेष साधन भी है ? जिसके अभ्यास करनेका प्राणी पूर्ण यत्न करे ।

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
॥ २७, २८ ॥

पदच्छेदः— बाह्यान् (बहिर्भवान्) स्पर्शान् (रूपरसादीन् विषयान्) बहिःकृत्वा (अन्तःकरणाद्दूरं क्षिप्त्वा) च (तथा) चक्षुः (नेत्रम् । दृष्टिम्) भ्रुवोः (भ्रूलतयोः । भ्रूकुट्योः) अन्तरे (मध्यभागे) एव, [निधाय] नासाभ्यन्तरचारिणौ (नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ) प्राणापानौ (बहिरन्तर्गमनशीलौ श्वासोच्छ्वासौ) समौ (ऊर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन तुल्यौ) कृत्वा, यः, मुनिः (महावाक्यार्थ मननशीलः) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (गुरूपदिष्टमार्गेण संयता इन्द्रि-

यमनोबुद्धयः यस्य सः) विगतेच्छाभयक्रोधः (इच्छाभयक्रोधेभ्यो रहितः । इच्छा विषयाभिलाषः भयं जन्ममरणभीतिः, च क्रोधः कोपः इच्छाभयक्रोधाः विशेषेणाभिगताः एतास्त्रयोविकारा यस्य सः) मोक्ष-परायणः (मोक्षः परमानन्दस्वरूपः परं श्रेष्ठमयनमवलम्बनं यस्य सः। मोक्ष एव परागतिर्यस्य सः) सः (मुनिः) सदा (सततम । सर्वस्मिन् काले । जीवन्नपि) मुक्तः (संसृतविषयविरक्तो भूत्वा ब्रह्मणि लीनः । मोक्षानन्दभोगी) एव (निश्चयेन अस्ति) ॥ २७, २८ ॥

पदार्थः— (बाह्यान् स्पर्शान्) रूप रसादि बाहर रह-नेवाले विषयोंको (बहिःकृत्वा) जो,संगद्वारा अन्तःकरणमें प्रवेश कर-जाते हैं उनको अन्तःकरणसे बाहर निकालकर (च) और (चक्षुः) नेत्रोंको (भ्रुवोः) दोनों भउहोंके (अन्तरे) मध्यस्थानमें (कृत्वा) धारण करके (नासाभ्यन्तरचारिणौ) नासिकाके भीतरही-भीतर प्रवाह करनेवाले (प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों वायुओंको (समौ कृत्वा) समकरके अर्थात् एक संग निरोध करके (यः मुनिः) जो मननशील पुरुष (यतेन्द्रियमनोबुद्धिः) गुरुकी बतायीहुई रीतिसे अपनी इन्द्रिय, मन और बुद्धिको यत्नपूर्वक अपने हाथ रखता है (विगतेच्छाभयक्रोधः) जो नाना प्रकारके विषयोंकी अभि-लाषासे, जन्म मरणके भयसे और क्रोधसे रहित है तथा (मोक्षपरायणः) मोक्षपरायण होरहा है (सः) वही मुनि (सदा) भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालोंमें तथा जीते मरते (मुक्त एव) निश्चय-करके मुक्तही है ॥ २७, २८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे निर्वाणब्रह्मकी प्राप्तिका सुलभ साधन पूछा है तिसके उत्तरमें भगवान् ध्यान-योग जो अन्तरङ्ग साधन हैं उसका वर्णन आरम्भ करते हैं— अबतक भगवान् कर्मयोगका वर्णन करतेहुए बारम्बार निष्कामकर्मका उपदेश करते चलेआए हैं और यह दिखलाते आये हैं, कि कर्मोंका फल भगवत्में अर्पण करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है पर अबतक जितने प्रकारके कर्मोंका वर्णन किया है सब मोक्षके बहिरङ्ग साधनोंका वर्णन किया है। अब अर्जुनके पूछनेपरे अन्तरङ्ग साधनका वर्णन करते हैं जिससे शीघ्र परमपदकी प्राप्ति होती है। जो गृहस्थोंका विशेषकर परम कल्याणकारक है और सन्यासियोंका परम धन है। क्योंकि जो सर्वप्रकारकी कामनाओंसे रहित होकर कर्मयोग द्वारा अन्तःकरणको शुद्धकरनेके पश्चात् कर्मोंको त्याग संसारसे अलग होगया है उसको भी अपनी शेष आयु ब्रह्मकर्ममें बितानी चाहिये। इसलिये इसध्यानयोगका आरम्भ इन २७, २८ और अगले २९ तीन श्लोकोंमें सूत्रके समान करते हैं। अर्थात् इन तीनों श्लोकोंको ध्यानयोगका सूत्रही समझना चाहिये, छठवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक जिसका वर्णन करेंगे।

शंका— अर्जुनने तो मोक्षतत्त्वके अभिलाषियोंकेलिये साधन पूछा है फिर भगवान् कर्मके अन्त करनेवाले सन्यासियोंका परम धन जो ध्यानयोग इसे अर्जुनके प्रति क्यों कहना चाहते हैं ?

समाधान— गृहस्थाश्रमियोंको भी इसी ध्यान-योगका आरम्भ करना पडता है। विशेषकर द्विजोंकेलिये तो ब्रह्मचर्य्याश्रमहीसे इस

क्रियाको आरम्भ करनेकी आज्ञा दीगयी है । अर्थात् जिस दिनसे यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा द्विजके गलेमें जनेऊ डालागया उसी दिनसे आचार्य्य प्राणायामकी विधि तथा गायत्री मंत्र सिखलाना आरम्भ करदेता है । अर्थात् आगे सन्यस्त अवस्थामें तो इसी क्रियामें समय विताना पडता है । इसलिये ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही इसका आरम्भ कर-देते हैं । ब्रह्मचारी उन्नति करते-करते गृहस्थाश्रम प्राप्त होनेतक **प्रत्याहार** की क्रिया पूर्ण करलेता है तहांसे **धारणाका** अभ्यास कर-तेहुए **प्राणी** जब वानप्रस्थ अवस्थामें पहुंचता है तब ध्यानकी सिद्धि प्राप्त होती है । तदुपरान्त सन्यस्त अवस्थातक पहुंचतेहुए समाधिकी क्रिया आरम्भ होजाती है । सन्यासग्रहणका तात्पर्य्य केवल कषायवस्त्र धारणकर सिरमुँडा द्वार-द्वार भिक्षा मांगकर पेट भरना ही नहीं है वरु जीते—जीते ब्रह्मानन्दका लाभकरना है ।

मुख्य अभिप्राय यहहै, कि यह क्रिया बचपनमें ब्रह्मचर्य्याश्रमसे आरम्भ होकर चतुर्थ अवस्था अर्थात् सन्न्यस्त आश्रमतक पहुंचती है । इसलिये भगवान् स्वयं अपने मुखारविंदसे इस क्रियाको १२ प्रकारके यज्ञोंके अन्तर्गत पहले भी कहआये हैं (देखो अ० ४ श्लो० २६) **और अब** भी इसीका कहना उचित समझते हैं क्योंकि यही क्रिया मोक्ष-तत्वका परमसाधन है । यहां शंका मत करो !

प्रिय पाठको ! यह **योगयज्ञ** सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है जिसका फल अमोघ कहागया है । जिसके द्वारा मनुष्योंको इस लोक और परलोकमें परमानन्दकी प्राप्ति होती है । नाना प्रकारकी सिद्धियां भी सम्मुख आखडी होती हैं । चाहे साधक उनकी इच्छा करें वा न करे ।

दूसरी बात यह है, कि यदि सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डलके मनुष्योंको एकत्र करके पूछा जावे, कि तुमलोग क्या चाहते हो ? तो सब एक-बारगी झट कहपडेंगे, कि सुख, आरोग्य, आयुकी वृद्धि और ईश्वरकी प्राप्ति इन ही चारों पदार्थोंको हमलोग चाहते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि प्रत्येक व्यक्तिको लोक परलोकमें आनन्दपूर्वक समय वितानेके लिये इनही चार पदार्थोंकी आवश्यकता है। इसलिये भगवान् इन चारोंकी प्राप्तिकेलिये योगयज्ञरूप क्रियाको मुख्य जानकर यों बतलाते हैं, कि [स्पर्शान् कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः] अर्थात वाहरवाले रूप, रस, गन्धादिको अन्तःकरणसे बाहर निकालकर दोनों भौंहोंके मध्य भीतरकी ओर नेत्रोंको लेजाकर इस क्रियाका आरम्भ करे।

शंका— भगवानने जो यहां बाहरवाले विषयोंको बाहरकरके कहा ऐसा कहनेसे "वदतोऽव्याघात" दोषकी प्राप्ति होती है। क्योंकि जो वस्तु स्वयम् बाहरकी है उसे फिर बाहर क्या करना ?

समाधान— ये जो रूप, रस इत्यादि बाहरके विषय हैं वे इन्द्रियोंके द्वारा भोगते-भोगते अन्तःकरणमें प्रवेश करजाते हैं। जैसे अरुण वा पीतरंग निर्म्मल जलमें प्रवेशकर जलको तदाकार अरुण वा पीत बनादेता है, इसी प्रकार बाहरवाले विषय भीतर घुसकर अन्तःकरणको विषयाकार बनादेते हैं इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जैसे शरीरमें घुसेहुए कंटकको फिर बाहर निकाल कर सुखी होजातेहैं। ऐसेही योगी पहले बाहरके उन विषयोंको जो भीतर प्रवेश करगये हैं फिर बाहर निकालदेवे।

प्रिय पाठको ! साधक जब एवम् प्रकार सब विषयोंको अन्तःकरणसे बाहर निकाल देगा तब अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल होजावेगा इसी कारण भगवान्‌ने ऐसी आज्ञा दी है ।

उक्त प्रकार सब विषयोंको बाहर निकालनेके पश्चात् " चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो: " नेत्रोंको दोनों भौंहोंके भीतर खैंच लेजावे। अर्थात् भौंहोंके बीचों बीच नेत्रोंको एकाग्र कर दोनों पुतलियोंसे एक ठौर भ्रूमध्यमें देखे ।

पर दोनों पुतलियोंकी दृष्टिको भ्रूमध्यमें एकाग्र कर एक ठौर देखना कठिन है । इसलिये पाठकोंके कल्याण-निमित्त इस क्रियाकी रीति यहां बतायी जाती है—

अपने घरकी दीवाल पर एक +काली बिन्दु बनाकर अथवा किसी देवालयमें जाकर राम कृष्णकी मूर्तिके भौंहोंके मध्यस्थानमें कस्तूरीकी बिन्दु लगाकर उस बिन्दुको दोनों पुतलियोंसे देखनेका अभ्यास करे । एवम् प्रकार अभ्यास करनेके पश्चात् नेत्रोंको अपनी नाभिपर लाजमावे जब नाभि दोनों नेत्रोंसे एक संग स्वच्छ दीखने लगजावे तब नेत्रोंको वहांसे भी हटा कर ऊपरकी ओर -हृदयके मध्यभागमें

+ योग-यज्ञ साधन करनेवाले इसी क्रियाको त्राटक कहते हैं । इसका वर्णन अ० ४ श्लो० २८ में देखो इसी क्रियाके साधनके लिये आचार्योंने नाभि, हृदय तथा नासाग्रमें चन्दन लगाकर लक्ष्य बनानेकी आज्ञा दी है ।

लाजमावे फिर तहांसे श्री गुरुके बतायेहुए मार्ग द्वारा ❀ नासाग्राव-लोकनका अभ्यास करे। फिर नेत्रोंको ऊपर चढाताहुआ दोनों भौंहोंके मध्य भीतरकी ओर पुतलियोंको उलट एकाग्र-चित्त हो × "सुषिर-मण्डलका" अवलोकन करे। इस सुषिर-मण्डलमें अपने इष्टके स्वरूपका ध्यान करे। तहां फिर क्या करे? सो भगवान् कहते हैं, कि [**प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ**] नासाके भीतर-भीतर चलने वाले प्राण और अपानको सम करके जो आगे कथन कियेहुए गुणोंसे युक्त होता है वही सदा जीवन्मुक्त है।

अब यहां नासाभ्यन्तरचारी प्राण और अपानको सम करने अर्थात् प्राणायाम करनेकी संक्षिप्त रीति पाठकोंके कल्याण-निमित्त दिखलादी जाती है। इसका विस्तार-पूर्वक वर्णन अगले अध्यायमें किया जावेगा।

जानना चाहिये, कि इस शरीरमें साढेतीनलक्ष नाडियां हैं तिनमें केवल ७२००० बहत्तर सहस्र नाडियां मुख्य हैं। इनमें भी श्रेष्ठ केवल १० नाडियां हैं। तिन दसोंमें **ईडा, पिंगला, सुषुम्णा, वज्रा, चित्रणी और ब्रह्मनाडी** ये ६ नाडियां मुख्य हैं। योगियों तथा अभ्यासियोंके जानने योग्य हैं।

❀ नासाके अग्रभाग अर्थात् नोंकको दोनों नेत्रोंसे एक ही बार देखना नासाग्रावलोकन कहाजाता है। विना गुरु इसका साधन समझमें नहीं आता।

× सुषिरमण्डलका वर्णन अ० ४ श्लोक २८ में देखो।

प्रमाण—मेरोर्वाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे ।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा ॥
धुस्तूरस्मेरपुष्पग्रथिततमवपुस्कन्धमध्याच्छिरस्था ।
वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमेऽस्या ज्वलन्ती
तन्मध्ये चित्रणी सा प्रणवविलसिता योगिनां योगगम्या ।
लूतातन्तूपमेया सकल सरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान् ।
भित्वा देदीप्यते तद्ग्रथनरचनया शुद्धबुद्धिप्रबोधा ।
तस्यान्तर्ब्रह्मनाडी हरमुखकुहरादादिदेवान्तरस्था ॥
(षट्चक्रनिरूपण श्लो० १, २)

अर्थ—मेरुदण्ड (पीठकी बीचोंबीचकी हड्डी) के बाहरकी ओर बायें और दाहिने भागमें चन्द्र और सूर्य्यसे अधिष्ठिता ईडा और पिंगला नाम की दो नाडियां वर्त्तमान हैं । फिर उक्त मेरुदण्डके बीचोंबीच तीनों गुणोंसे युक्त तिलडिये बटेहुए सूतके समान लिपटी हुई चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि तीनों करके अधिष्ठिता सुषुम्णा नामकी नाडी प्रकाशमान होरही है। यह सुषुम्णा खिलेहुए धतूरके फूलके बीचवाले सूतके समान पतले मूलद्वारसे निकल कर दोनों कन्धोंके बीचोंबीच होतीहुई शिर तक चलीगयी है । इसी सुषुम्णा नाडीके मध्यमें बज्रा नामकी चौथी नाडी लिंगप्रदेशसे निकल मस्तक तक चमकती हुई लग रही है ॥ १ ॥

फिर इस वज्रा नाडीके बीचोंबीच ॐकार प्रणवसे युक्त योगाभ्यास द्वारा केवल योगियोंको विदित होनेवाली मकरेके सूतसी पतली चित्रणी नामकी पांचवीं नाडी मेरुदण्डसे लगेहुए चतुर्दलादि षट्-

चक्रोंको मालाके समान वेधती हुई साधकोंको शुद्ध ज्ञान देतीहुई ऊपरको चलीगयी है तिसके भीतर ब्रह्मनाडी "स्वयम्भू लिंग"से निकल सहस्रदलपद्मकी कर्णिकामें परम शिवके समीप तक पहुंचगयी है ॥ २ ॥

इस शरीरमें यही छः नाडियां मुख्य हैं जिनको योगाभ्यासी गुरुके उपदेश द्वारा भली भांति जानकर इन्हीं नाडियोंकी सहायतासे धीरे-धीरे श्वासको सूक्ष्म करतेहुए प्राण और अपान को सम करते हैं।

समका अर्थ है तुल्य करदेना जैसे जब किसी वस्तुके तोलनेकी आवश्यकता होती है तब तुला (तराजू) के दोनों पल्ले सम करलियेजाते हैं। यदि वे सम न कियेजावें तो वस्तुकी तोलमें अशुद्धता प्राप्त होती है। इसी प्रकार इन नाडियोंकी तुला पर प्राण और अपान सम कियेजाते हैं। तुलासे इन नाडियोंकी उपमा इसलिये दीगयी है, कि तुलामें एक दण्डी, छः डोरियां और दो पल्ले होते हैं, जो तोलनेके समय सम करलियेजाते हैं। इसी प्रकार इस शरीरमें जो मेरुदण्ड पीठकी हड्डी है यही तो दण्डी है और ईडा पिंगलादि जो छः नाडियां ऊपर कथन कीगई हैं वे ही छः डोरियां लगी हैं तिनमें प्राण अपानके पलडे लटकाये गये हैं। तहां "**हृदि प्राणम्**" हृदय में तो प्राणका निवास और "**गुदेऽपानम्**" गुदामें अपानका निवास होनेसे समता नहीं है। तिसी विषमताको इस तुला द्वारा खैंच कर

टिप्पणी— इस विषयको पूर्ण प्रकार समझानेके लिये श्री स्वामी हंसस्वरूप कृत षट्चक्रनिरूपणचित्र वा मूर्तिको देखो।

सम करदेना चाहिये । इनके सम होजानेसे मन इन्द्रियोंके सहित समताको प्राप्त होजाता है । तीनों गुणोंमें सम-रूप प्रवाह करनेसे प्रकृतिकी प्रबलता रुकजाती है । मन एकाग्र हो निर्वाण पदवी को प्राप्त होजाता है । क्योंकि इस शरीरमें जितनी इन्द्रियां हैं मनके सहित इस प्राणसे ही बांधीहुई हैं। जहां-जहां प्राण जाता है ये सब उसकेपीछे जाती हैं। जिसका वर्णन अ० ४ श्लोक २९ में संक्षिप्त रीतिसे होचुका है । यदि प्राण न हो तो मन सहित सब इंद्रियां निश्चेष्ट होजावें । इसी कारण छान्दोग्यकी श्रुतिने "प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" (देखो प्र० ५ श्रु० १) कही है अर्थात् इस शरीरमें प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहाजाता है ।

प्रमाण— श्रु० "प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दूतवान्भवति यश्चक्षुर्गोप्तृ गोप्तृमान्भवति यः श्रोत्रं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान्भवति यो वाचं परिवेष्ट्रीं परिवेष्ट्रीमान्भवति तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमाना बलिं हरन्ति ।" (कौषितक्योपनिषत् अ० २ श्रु० १)

अर्थ– कौषीतकीने कहा है, कि यह प्राणरूप ब्रह्म जो महाराजके सदृश है, तिसका दूत मन है, वचन दरबारी हैं, नेत्र रक्षाकरने वाले मंत्री हैं और कान द्वारपाल हैं जो लोगोंके आनेजानेका वृत्तान्त सुनाते हैं । तिसे प्राणरूप नरेशकेलिये सब इन्द्रियाधिष्ठित देवगण

बिना मांगे आपसे आप " **बलिं हरन्ति** " प्रजागणके समान इस नरेशका कर चुकादिया करते हैं।

मुख्य अभिप्राय इस श्रुतिका यही है, कि प्राणके पीछे मन सहित सब इन्द्रियां चलती हैं। इस प्राणको गुरूपदिष्ट-मार्ग द्वारा अपानके साथ सम करनेसे सुषुम्णा नाडी अवश्य खुलेगी तहां धीमी-धीमी ज्योति दीख पडेगी। फिर कुछ अभ्यास बढनेसे वज्रा नाडी खुलेगी तहां अधिक सुहावनी ज्योती दीख पडेगी। पश्चात् चित्रणी खुलेगी तहां अत्यन्त श्रेष्ठ ज्योति दीख पडेगी। फिर अन्तमें ब्रह्मनाडी खुलेगी तिसकी ज्योति देखतेके साथ समाधि होजावेगी और ध्यान स्थिर होजावेगा। इसमें चाहे मूर्त्तिरहित मन लगादो, चाहे अपने इष्टदेव राम, कृष्ण, शिवादिका रूप स्थिरकरके उस रूपका आनन्द भोगो। किसी प्रकारसे भोगो और आनन्द भोगतेहुए उसमें लय होजाओ चाहे उसके संग विहार करते रहो।

एवम् प्रकार नासाभ्यन्तरचारी प्राणोंको सम करके जो प्राणी [**यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः**] पूर्ण यत्नके साथ इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपने वश रखता है, तथा जो अहर्निश मोक्ष ही की प्राप्तिमें रत रहता है वही **यतेन्द्रिय मनोबुद्धिः, मुनि** और **मोक्षपरायण** है। अतएव [**विगतेच्छाभय-**

पाठकोंके बोधार्थ इन चारों विशेषणोंका विलग-विलग वर्णन कियाजाता है:-

१. **यतेन्द्रिय मनोबुद्धिः**— जो प्राणी पूर्ण प्रकार संयतेन्द्रिय है तथा

क्रोधः यः सदा मुक्तएवसः] जो प्राणी तृष्णा-शून्य होकर भय और क्रोधसे रहित है वही सदा मुक्त है। अर्थात् जीते-मरते सर्वदा एक रस सबोंमें निवास करताहुआ वर्त्तमान है।

इन दोनों श्लोकोंके द्वारा श्रीगोलोकबिहारी जगतहितकारीने गूढार्थशब्दोंका उच्चारण करके ध्यानयोगके बहुतेरे अङ्गोंका वर्णन करदिया है जैसे " स्पर्शान् कृत्वा वहिः " कहकर प्रत्याहारका कथन किया "चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः " कहकर धारणा का संकेत किया। " विगतेच्छाभयक्रोधः " तथा " यतेन्द्रियमनोबुद्धिः " कहकर यमनियमके अङ्गोंका संकेत किया। " मोक्षपरायणः " कहकर समाधिका संकेत किया ॥ २७, २८ ॥

मन बुद्धिके वशीभूत नहीं है उसीको यतेन्द्रियमनोवुद्धि कहते हैं।

२. मुनिः— जिन ब्रह्म विषयक वार्त्ताओंको शास्त्रोंके द्वारा अथवा गुरुके मुखारविंदसे श्रवण किया हो उसे चुपचाप मनन करने वालेको मुनि कहते हैं।

३. मोक्षपरायणः— मोक्ष ही है परम अयन जिसका अर्थात् रात्रिंदिवा जो मोक्ष ही के घरमें निवास करनेकी इच्छा रखता है और मोक्ष ही है गति जिसकी उसे मोक्षपरायण कहते हैं।

४. विगतेच्छाभयक्रोधः— जो प्राणी सर्व प्रकारकी कामनाओंसे जन्म, मरण तथा त्रयतापोंके भयसे और क्रोधसे रहित है उसे ' विगतेच्छाभयक्रोधः ' कहते हैं जिसे भगवान् ' वीतरागभयक्रोध ' भी कहआये हैं।

इन २७, २८ श्लोकोंमें भगवानने ध्यानका वर्णन किया अब २९ वें में "ध्येयका" अर्थात् ध्यान कियेजानेवाले उपास्यका वर्णन करते हैं—

मू०— भोक्तारं यज्ञतपसां सर्व्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
॥ २९ ॥

पदच्छेदः— **यज्ञतपसाम्** (मद्भक्तैः समर्पितानां यज्ञानां तपसाञ्च यत्फलानि तेषाम्) **भोक्तारम्** (देवतारूपेण भोगकर्त्तारम् पालकम् वा) **सर्वलोकमहेश्वरम्** (सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरम् हिरण्यगर्भादीनामपि नियन्तारम्) **सर्वभूतानाम्** (सर्वेषां प्राणिनाम्) **सुहृदम्** (निरपेक्षतयोपकारिणम्) **माम्** (वासुदेवम्) **ज्ञात्वा** (बुद्ध्वा) **शान्तिम्** (कैवल्यम् । निर्वाणम् । मोक्षाख्यां सर्व-संसारोपरतिम्) **ऋच्छति** (प्राप्नोति) ॥ २९ ॥

पदार्थः— (**यज्ञतपसाम्**) नाना प्रकारके यज्ञोंके तथा कृच्छ्रचान्द्रायण, मौनादि तपोंके फलोंको (**भोक्तारम्**) भोगनेवाले तथा स्वीकार करनेवाले वा पालन करनेवाले (**सर्व्वलोकमहेश्वरम्**) भूलोक, भुवर्लोकादि सबलोकोंके महेश्वर तथा (**सर्वभूतानां सुहृदम्**) सब प्राणियोंके उपकार करनेवाले (**मां**) मुझ वासुदेवको (**ज्ञात्वा**) जानकर प्राणी (**शान्तिम्**) कैवल्यपरमपदको (**ऋच्छति**) प्राप्त होता है, क्योंकि मैं ही सबोंका ध्येय और उपास्य हूं ॥ २९ ॥

भावार्थः— अब भगवान् इस श्लोकमें ध्यान करनेवालोंके ध्येयका स्वरूप वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्**] इस संसारमें निष्काम कर्म सम्पादन करनेवाले जिज्ञासु नाना प्रकार यज्ञोंका सम्पदान करके उनके फलोंको तथा कृच्छ्रचान्द्रायण, मासोपवास, तीर्थाटन, पंचाग्नितपन और जलशयन इत्यादिके जिन फलोंको ईश्वरमें समर्पण करते हैं तिन सब फलोंके 'भोक्तारम्' अंगीकारकरनेवाले मुझ " **सर्व लोकमहेश्वरम** " सर्वलोकोंके महेश्वरको तथा [**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति**] सब प्राणियोंके सुहृद् मुझ वासुदेवको जानकर अर्थात् मेरे स्वरूपको प्राप्तकर कैवल्य परमपदको प्राप्त हेजाते हैं ।

यहां जो भगवानने " **१. यज्ञतपसां भोक्तारम्, २. सर्वलोकमहेश्वरम्** और **३. सर्वभूतानां सुहृदम्** " तीन विशेषणोंसे अपनेको युक्त किया तिनका वर्णन कियाजाता है सो सुनो !

बहुतेरे प्राणियोंके चित्तमें यह शंका बनीरहती है, कि नाना प्रकार शरीरके परिश्रमकर वा पुष्कल द्रव्यादि व्ययकर जो हमलोग नाना प्रकारके यज्ञोंका वा इष्ट, पूर्त्तादिकर्मोंका सम्पादनक रते हैं उनके फल यदि न मांगें, भगवत्में अर्पण करते जावें पर यदि भगवतने उनको किसी कारणसे उन्हें स्वीकार न किया तो हमलोग दोनों ओरसे गये हमारे परिश्रम तथा द्रव्यादि निरर्थक गये। इन ही पुरुषोंके सन्तोष निमित्त भगवान् कहते हैं, कि " **भोक्तारं यज्ञतपसाम** " मैं यज्ञ और तपका भोगनेवाला अर्थात् स्वीकार करनेवाला हूं । अभिप्राय यह है, कि जब कर्त्ता अपने कर्मोंको

मुझमें समर्पण करता है तब मैं सदा इसी विचारमें रहता हूं, कि इसे क्या दूं ? क्योंकि वह अपने कर्मोंका कुछ अन्य फल तो चाहता नहीं। इसलिये जब मैं जानलेता हूं, कि मेरा भक्त कुछ नहीं चाहता तो उसके उन कर्मोंके फलोंके बदले उसे अपने चरणोंकी प्रीति प्रदान करता हूं।

भगवानने अपनेको " भोक्तारम् " कहकर प्राणियोंको सन्तोष दिया है, कि तुम व्याकुल मत हो! मैं तुम्हारे कर्मोंके फलोंको अङ्गीकार करूंगा! और उनके फलोंके बदले अपने चरणोंकी भक्ति प्रदान करूंगा इसमें किसी प्रकार सन्देह मतकरो !

इतना कह फिर भगवानने जो अपनेको ' सर्वलोकमहेश्वर ' कहा तिसका भी अभिप्राय यही है, कि जो कोई उनके नामसे कर्मोंका समर्पण न कर किसी अन्य देवता देवीके नाम समर्पण करे तो वह भी मानो उन्हीको समर्पण करता है। क्योंकि वेद स्वयं कहता है, कि " तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमा । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः " (श्वेताश्वत० अ० ४ श्रु० २)

अर्थ— वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है वही ब्रह्म है, वही जल है और वही प्रजापति है।

इस मंत्रसे सिद्ध होता है, कि जो प्राणी जिस किसी भी लोक-लोकान्तरके देवता देवीके निमित्त अपने कर्मोंके फलोंको समर्पण करता है, वे सब उसी महेश्वरको पहुंचते हैं। जैसे किसी चक्रवर्ती नरेशके

अमात्य, मंत्री इत्यादि प्रजागणसे कर ग्रहणकर महाराजके समीप देते हैं । इसी प्रकार सर्वदेव मनुष्योंके कर्मोंका फल ग्रहण कर उसी महेश्वरके समीप पहुंचाते हैं ॥

फिर भगवानने तीसरा विशेषण " **सुहृदं सर्वभूतानाम्** " जो प्रयोग किया इसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवान् सब प्राणीमात्र तथा जड चेतनके सुहृद् नाम सखा हैं । जैसे सखा बिना किसी प्रत्युपकारकी इच्छाके अपने सखाके हितका ही सम्पादन करता रहता है इसी प्रकार भगवान सदा प्राणियोंके हितका ही विचार करता रहता है । उसे स्वयं तो किसी प्रकारकी इच्छा ही नहीं है । क्योंकि वह सर्वकामपूर्ण है ॥

शंका–जब भगवान प्राणीमात्रका हित ही साधन करता रहता है तो क्या कारण है, कि बहुतेरे प्राणी नरकमें पडे दुःख झेलते हैं ? तथा इस संसारमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंमें पडे घोर कष्ट सहते हैं, यह महेश्वर जो सबका सुहृद् कहलाता है इनके दुःखोंकी ओर क्यों नहीं देखता ?

समाधान– उस महेश्वरकी इस सृष्टिमें सुख और दुःख, भला और बुरा, साधु और चोर, सुजाति और कुजाति, लक्ष और अलक्ष, धनवान और दरिद्र, शीत और उष्ण, स्वर्ग और नरक दयावान और कसाई, दिन और रात, बुद्धिमान और मूर्ख, देवता और दानव, उच्च और नीच, पालन और संहार, लाभ और हानि इत्यादि सब परस्पर विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ अनादिकालसे रचदिये गये हैं ।

यदि ऐसी रचना न होती तो उस रचयिताका महत्व कुछ भी प्रकट न होता।

देखो! जब मनुष्य ग्रीष्म-ऋतुके तापसे व्याकुल पसीने-पसीने होजाता है तब ही वृक्षकी शीतल छाया तथा शीतल वायु उसे आनन्द दायक बोध होती हैं। इसलिये यदि ग्रीष्म न होकर सदा शीतल बना रहता, तो शीतलताका आनन्द कदापि अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार शीतकालमें आग अति प्रिय और सुखदायी जानपडती है। यदि सदा ग्रीष्मका ताप हीं ताप बना रहता तो आग कभी किसीको सुख नहीं देती। इसी प्रकार यदि क्षुधा पिपासाका कष्ट न होता तो नाना प्रकारके अन्न और शीतलगंगाजलमें कदापि आनन्दका अनुभव नहीं होता वरु इनको कोई पूछता भी नहीं। यदि अँधियाली रात्रि न होती तो प्रकाशमान दिनका कुछ भी आनन्द अनुभव नहीं होता। दरिद्रता न होती, तो धनमें कुछ भी आनन्दका अनुभव नहीं होता। मूर्ख न होते तो विद्वानोंकी कौन प्रशंसा करता।

मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि दुःख सुख इस जीवके साथ प्रपंचके नियमानुसार अनादि कालसे चलेआते हैं। जब दुःख किसी प्राणीपर आता है और वह प्राणी किसी विपत्तिमें पडता है तब उसके उपकार करनेकी आवश्यकता होती है। यदि विपत्ति ही नहीं होती तो उपकार भी नहीं होता। उपकार करनेवाला किसलिये बनता और उपकारी क्यों कहलाता? फिर तो सुहृद् और शत्रुओंकी क्या आवश्यकता थी। क्योंकि शत्रु मित्रकी पहचान हीं नहीं होती। इसी कारण

सर्वसाधारण प्राणी अपने-अपने भले बुरे कर्मोंके अनुसार सुख और दुःख तथा स्वर्ग और नरक भोगरहे हैं। यह भगवानका साधारण नियम है पर इनमें जो प्राणी भगवत्के सम्मुख हो अपने अन्य सर्व प्रकारके पुरुषार्थोंको तिलांजलि दे उसकी शरण आगिरते हैं तब वह महेश्वर उनका बिना किसी स्वार्थ-साधनके सदा हित करनेवाला होजाता है। यह भगवान्का विशेष नियम है इसलिये भगवान्के भक्तोंके सुहृद् (और मित्र) होनेमें भी सन्देह मत करो! जब इस संसारके साधारण मित्र विपत्तिमें काम आयाकरते हैं तो भगवत् जो अपना सच्चा मित्र है क्यों नहीं विपत्तिमें काम आवेगा ?

वरु सच्ची बात तो यों है, कि इस संसारमें जितने +मित्र हैं सब स्वार्थी हैं केवल वही वासुदेव अपना सच्चा सखा और सुहृद् है जो

+ मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सहभवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम्।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुला,
एते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्॥

(हितोपदेश २१४)

अर्थ— अंजनके सदृश जो नेत्रोंको सुख देनेवाला, चित्तको आनन्द देनेवाला, सुख दुःखका पात्र अर्थात् दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होनेवाला है ऐसा सच्चा मित्र दुर्लभ है। सम्पत्तिके समय धन हरनेवाले अर्थात् स्वार्थ साधन करनेवाले मित्र तो सब ठौर मिलते हैं पर मित्ररूप स्वर्णकी परीक्षा करनेके लिये विपत्तिकाल ही कसौटी है।

यथार्थ विपत्तिके समय काम आनेवाला और निर्पेक्ष उपकार करनेवाला है। क्योंकि वही एक सर्व लोकमहेश्वर प्रीतिकी सच्ची रीतिका जानने वाला है।

यदि वह जीवोंका सुहृद् न होता तो प्रह्लादको अग्निसे, जलसे, पर्वतसे और विषधरोंके विषसे कौन बचाता ? हिरण्यकश्यपुके खड्गसे बचानेकेलिये खम्भ फाडकर नृसिंह कौन बनजाता ? मार्जारको कुम्भकारके आवासे कौनरक्षा करता ? महाभारतकी रणभूमिमें भर्दूलके अराडोंपर गजघराटको गिरा, अत्यन्त साधारण जीव जन्तुओंके रक्षक होनेका कौन परिचय देता ? मातृगर्भमें जीवोंकी कौन सुधि लेता ? वृन्दाबन-निवासियोंके उपकारके लिये यमुना जलको विषसे रहितकर कालीनागके कठिन फूत्कारको कौन सहता ? दावानलको पानकर गोकुल निवासियोंको कौन बचाता ? केवल देवताओंको बन्धनसे छुडानेकेलिये राज्यसुख छोड अपने ऊपर बनवासके कठिन दुःखको कौन लेता ? कहां तक कहूं ! वह देखो ! इस समय भी अपने सखा अर्जुनके कल्याण निमित्त अपनी सब बडाई और महत्त्वको छोड सारथी बनकर आगे-आगे वीरोंके बाणोंके क्लेश सहनेको रथपर आबैठा है। क्या अब भी उसको सुहृद् कहनेमें कुछ सन्देह है ? कदापि नहीं !

इसी कारण भगवान् अपनेको अपने मुखसे सर्वभूतानां सुहृद् कहकर अर्जुनको समझारहे हैं, कि जो मेरेको इस प्रकार जानता है वह परम शान्तिस्थान जो कैवल्यपरमपद उसे लाभ करता है।

शंका— ऊपरके कथनमें जितने उपकार दिखलाये सब उसके मूर्त्तिमान स्वरूप अर्थात् साकार-स्वरूपके हैं अमूर्त्तिमान् अर्थात् निराकार ब्रह्मका तो उपकार कुछ दिखलाया ही नहीं ?

समाधान— व्यवहारके समय स्थूल-रूपसे उपकार दिखानेके लिये तो उस महाप्रभुको अपना साकार ही विभव अंगीकारे करनां पडता है जिसके द्वारा सर्वसाधारण भगवानकी महिमाका अवलोकन करते हैं। पर सूक्ष्म उपकारोंके निमित्त भी वह सदा अपने निराकार विभव से जीवोंकी रक्षा करता ही रहता है। जैसे प्रह्लाद भक्तकी पीठपर खड्गोंका टूटजाना, धधकती लहलहाती हुई अग्निकी प्रदीप्त ज्वालाका शीतल होजाना तथा मीराबाईके विषके कटोरेका अमृत होजाना उस महाप्रभुके निराकार सूक्ष्म-स्वरूपकी महिमा नहीं है तो क्या है ?

इस पांचवें अध्यायतक जिज्ञासुओंके उपकारनिमित्त जितनी क्रियाएँ बतायीगयी हैं वे अवश्य प्राणियोंको कैवल्य-परमपदतक अर्थात् भगवच्चरणोंतक पहुँचादेनेकेलिये समर्थ हैं। पर बडे शोककी वार्त्ता तो यह है, कि आजकल इस क्रियाके बतानेवालोंका इस देशमें अभाव होजानेसे प्राणियोंको सबठौर बतानेवाले नहीं मिलसकते। इसलिये अधिकांश भारतनिवासी परमानन्दतक न पहुंचकर विषयानन्दको ही परमश्रेष्ठ जान, अपनी बुद्धिको सर्वोपर उत्तम मान, यथेच्छ मनगढन्त-धर्म बनालिया-करते हैं जिससे लौकिक सुखोंकी अधिकता तो अवश्य होती है पर पारलौकिक सुखोंको तिलांजलि देनीपडती है। इसलिये जिज्ञासु जो सचमुच अपने परलोकके सुधारनेवाले हैं थोडा परिश्रम और यत्न करके

अपने निवासस्थानसे दायें बायें, तीर्थस्थानोंमें, गम्भीर बनोंमें, पशुपतीनाथ अमरनाथ, बदरीनाथ और केदारनाथ इत्यादि स्थानोंमें तीर्थाटनके बहाने पहुंचकर महात्माओंके अन्वेषणमें यदि दो एक मास फिरें, तो अवश्य वह महाप्रभु उनपर दया कर किसी सच्चे मार्गबतानेवालेके पास उनको पहुंचा देवेगा । जहां उनको सर्वप्रकारकी क्रियाओंकी प्राप्तिमें पूर्ण सुविधा होगी ।

बहुतेरे मूर्खोंके चित्तमें जो यह शंका बनीहुई है, कि संसारमें इस समय कोई महात्मा ही नहीं है, यह निरर्थक है । ईश्वरकी सृष्टिमें ऐसी कोई बात नहीं है जो निर्वीज होगई है । अतएव इस समय मुनि ऋषि, योगी, महात्माओंके वीज नष्ट नहीं होगये हैं, कहीं न कहीं वे हैं अवश्य ! जो समय-समयपरे प्रकट भी होजावें तो आश्चर्य्य नहीं है । खोजो ! पाओगे (Seek & ye shall get knock & it shall be open to you.) द्वारको खटखटाओ ! वह खुलपडेगा ।

प्रिय पाठको स्मरण रहे, कि इस पांचवें अध्यायके अन्तवाले २७, २८ और २९ तीन श्लोकोंको भगवान्ने ध्यानयोग अर्थात् अष्टांगयोग वर्णन करनेके लिये सूत्रवत् कहा है जिसकी वृत्ति अगले अध्यायमें है

इन तीनों बिशेषणोंसे भगवान्ने यह भी सूचना करदी, कि कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका विषय मैं ही हूं। कर्मियोंका ईप्सित मनोरथ, उपासनाका उपास्य और ज्ञानका ज्ञेय मैं ही हूं ॥ २९ ॥

को वेत्ति भूमन्! भगवन्! परात्मन्!
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।

क वा कथं वा कति वा कदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥
एवम्विधं त्वां सकलात्मनामपि,
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा,
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति पंचमोऽध्यायः

शुद्धाशुद्ध-पत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मन्यामम	सन्न्यासम्	१०८७	१०
सन्याम	सन्न्यास	११०१	४
वन्धनात्	वन्धात्	११०१	२
संत्याशी	सन्न्यासी	११०३	६
निर्विल्पा	निर्विकल्पा	११०८	१
अर्शधदित्वा-नम	अर्शादित्वान्म	१११९	१६
सत्त्व	सत्वा	१११६	१३
विशेप	विशेपः		
चैतन्य	चै[illegible]	११२७	४
हारामि	[illegible]	११३६	१७
[illegible]णिक	[illegible]	११४३	८
[illegible]ापेभ्यो	पाप[illegible]	११४८	२१
मानन्द	एतमानन्द	११५६	१५
शान्ती	शान्तिकी	११६०	१२
मध्या० श्लो०	हंसनादभाग २	११६१	२१
परामताः	परामृताः	१२००	२०
मपंच	मपंचः	१२०६	१८
सम्पति	सम्पत्ति	१२२२	६
मीतिमाजु	मीतिमञ्जु	१२२१	६
मसहितुम	मसोढुम्	१२२४	१२
शोढुम्	सोढुम्	१२३१	१०
वर्त्ती	वर्त्ति	१२४०	४
जीवितां	जोवतां	१२५१	१७
एत	एतेत्र	१२५६	३
था	[illegible]	१२५७	४
पूर्ण	पूर्ण	१२६५	१५
खीकार	स्वीकार	१२६७	१६
निर्पेक्ष	निरपेक्ष	१२७१	१
पशुपती	पशुपति	१२७५	१
कीदसि	कीदसि	१२७६	२